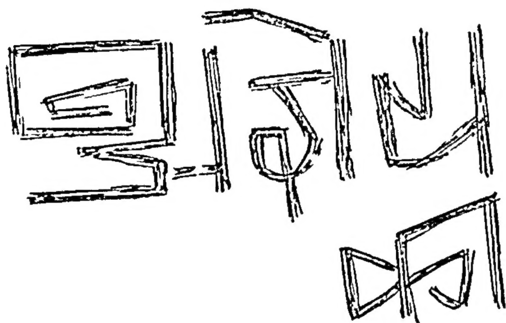




नन्दकिशोर आचार्य



सूर्य प्रकाशन मन्दिर

बीकानेर

मूय दम रुपये मात्र

०

०

प्रकाशक

मूय प्रकाशन मदिर

त्रिस्सा का चौक बीकानेर

०

प्रथम सस्करण

१६८०

०

मुद्रक

स्यार प्रिटग दिल्ली ३२

AGYEYA KI KAVYA TITEERSHA

by Nand Kishore Acharya   Rs 10 00

हिन्दी-साहित्य का विधिवत् विद्यार्थी कभी नही रहा—पाठक अवश्य रहा हूँ और पाठक का लक्ष्य कृति का मूल्याकन करना नही, रसास्वादन करना और समझना है। यह पुस्तक भी अज्ञेय के काव्य-ससार का मूल्याकन नही, उसे समझने के प्रयास का परिणाम है। इसके लिखे जाने का उद्देश्य भी अज्ञेय के काव्य को समझना ही है और इसमे भी सर्वाधिक सहायता स्वय अज्ञेय ही से मिली है—उनके काव्येतर साहित्य से। अपने साहित्यिक मित्रो—विशेषत. डा० महावीर दाधीच, प्रकाश परिमल और डॉ० राजानन्द के साथ हुए विचार-विमर्श ने निश्चय ही मुझे कई असावधानियो के प्रति सजग किया है। फिर भी पुस्तक लिखी नही जाती यदि इन मित्रो की रचनात्मक प्रेरणा के साथ-साथ भाई सूर्यप्रकाश विस्सा और डॉ० पूनम दईया का प्रवल आग्रह नही होता।

काव्य को समझने मे हुई किसी भी चूक के लिए कवि के समक्ष दोषी हूँ, क्षमाप्रार्थी भी।

सुथारो की वडी गुवाड,
बीकानेर

नन्दकिशोर आचार्य

'जव हम किसी कलाकार की प्रतिभा के सामने
झुकते हैं तो उसमे से स्वय भी कला के प्रति
निष्ठावान होने की कर्तव्य-प्रेरणा पाते है।'

—अज्ञेय

अनुक्रम

काव्य दर्शन

किसी भी विशिष्ट कवि के कृतित्व के विश्लेपण के लिए यह अनिवार्य स्थिति है कि हम उसके काव्य से ही नही, काव्य-दर्शन से भी पूर्णतया परिचित हो—विशेपतया उन स्थितियो मे जवकि आलोच्य कवि काव्य-धारा के किसी नए मोड का पुरस्कर्ता भी रहा हो और जिसके व्यक्तित्व के विवादास्पद होने की पृष्ठभूमि काव्य से अधिक उसकी काव्य-सम्वन्धी मान्यताए रही हो। अज्ञेय हिन्दी साहित्य मे ऐसे ही विवादास्पद व्यक्तित्व हे।

कवि, आलोचक एव सम्पादक तीनो ही रूपो मे अज्ञेय अपनी काव्य-सम्वन्धी मान्यताओ को निरन्तर अभिव्यक्त करते रहेहै और उनके आधार पर साहित्यिक क्षेत्रो मे अच्छा-खासा विवाद भी होता रहा है। 'तार सप्तक' व 'त्रिशकु' से लेकर 'हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य' तक अज्ञेय की काव्य-सम्वन्धी मान्यताओं मे निरन्तर विकास एव परिष्कार हुआ है और इसमे कोई सन्देह नही कि अव वे कवि-रूप मे ही नही वरन् काव्य-चिंतक के रूप मे भी 'राहो के अन्वेपी' नही, लक्ष्य पर पहुँचे हुए राही ही प्रतीत होते है। उनकी काव्य सम्वन्धी धारणाओ का अध्ययन इसलिए भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि इस दिशा मे उनकी चिन्तना का विकास मात्र उनकी काव्य-यात्रा का ही नही—नयी कविता की विकास-यात्रा का भी सपूरक रहा है। अपनी काव्य-सम्वन्धी मान्यताओ को अज्ञेय ने सदैव भारतीय काव्य-परम्परा की पृष्ठभूमि पर निर्मित करने का प्रयास किया है और इसमे वे सफल भी हुए है यद्यपि उनका यह जुडाव

नयी व्याख्याओ द्वारा सस्कारित है। 'त्रिशकु' के 'रूढि और मौलिकता' निबध को लकर (जो टी० एस० ईलियट के 'Tradition and Individual Talent' नामक निबध का भावानुवाद है) अज्ञेय पर भारतीय काव्य-परम्परा से विछिन्न होने तथा विदेशी चितन से अत्यधिक प्रभावित होने के आरोप जहाँ लगत रहे वहीं दूसरी ओर अज्ञेय की सहवर्ती एव अनुवर्ती पीढी इसी त्रिशकु म अज्ञेय की आधुनिक दृष्टि पाती है और उनके परवर्ती विकास को रूढिबद्ध तथा आचार्यत्व की मुद्रा धारण किए हुए पाती है। ये दोनो ही दृष्टिकोण एकागी एव सतही है। अज्ञेय की काव्य दृष्टि अपने मूल म सदव ही भारतीय रही है और वे इसी दिशा म आगे बढने और उसके आधुनिकीकरण म सचेष्ट रहे हैं।

इसम कोई सन्देह नहीं कि अज्ञेय ईलियट की समीक्षा-पद्धति एव उनकी काव्य चितना स प्रभावित रहे हैं लेकिन यहा यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक हो जाता है कि प्रभाव का तात्पय अपनी जडो से कटना नहीं है। इस महान् अग्रेज कवि-समीक्षक से उनके प्रभावित होने के कारणो का यदि विश्लेषण किया जाए तो इस तथ्य की पुष्टि ही होगी। ईलियट क जिस सिद्धान्त से वे सर्वाधिक प्रभावित रह वह निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति का सिद्धान्त है जिसकी चर्चा अज्ञेय कई स्थलो पर इन पक्तियो का उद्धरण देते हुए करते है 'भोगने वाले प्राणी और सजक कलाकार के मध्य सदा एक अन्तर रहता है और जितना बडा कलाकार होता है उतना ही भारी यह अतर होता है।'[1] लेकिन यदि हम इस सूत्र का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाता है कि मूल धारणा की दृष्टि से यह सिद्धान्त रस सिद्धान्त के साधारणीकरण से अधिक दूर नहीं रह पाता। अपनी अनुभूति को उस विशेष रूप म रखना कलाकार का प्रमुख दायित्व है जिसम वह सहृदय-सवद्य हो सके। लेकिन यह होगा कसे ? और इस प्रश्न का उत्तर अज्ञेय के पास है। व जानते हैं कि पाठक के सम्मुख अनुभूति का प्रस्तुतीकरण कलानुभव क रूप म होता है—जीवनानुभव क रूप म नहीं 'कवि साधारणीकरण द्वारा जिस अनुभूति का प्रेषण करता है वह काव्यानुभूति जीवन की अनुभूति स अलग होती है।' यहाँ अलग का तात्पय भिन्न

1 आत्मनेपद पृ 166

या विरोध से न होकर यही है कि उसका स्वरूप वैयक्तिक नही रहता अत. वैयक्तिक प्रतिक्रिया भी वहाँ नही रहती। इसके लिए कलाकार की प्रतिक्रिया और वैयक्तिक प्रतिक्रिया का अन्तर जानना भी आवश्यक है। वस्तुत. जीवनानुभव को कलानुभव मे परिवर्तित करना ही साधारणीकरण है—ईलियट की शव्दावली मे कहे तो 'निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति' है। सृजेता कलाकर की प्रतिभा इस कलानुभव की रचना मे ही प्रकट होती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि कला का जीवनानुभव से कोई सवध नहीं है। अज्ञेय कहते है. "साधारण का साधारण वर्णन कविता नही है; कविता तभी होती है जव साधारण पहले निजी होता है और फिर व्यक्ति मे से छनकर साधारण होता है। जो इसको भूलते है, उनके पद्य परम सोद्देश्यपूर्ण होकर भी कविता नही वन सकते, और चाहे जो कुछ हो जाए।"[1] इस प्रकार कलानुभव की प्रथम आवश्यकता ही जीवनानुभव है। लेकिन जीवन के किसी भी विशिष्ट अनुभव को तव तक कलात्मक स्तर पर प्रस्तुत नही किया जा सकता जव तक उसे पूरी तरह समझ न लिया जाए—और उसे समझने के लिए उसके प्रति तटस्थ होना आवश्यक है। इस प्रकार व्यक्ति के रूप मे प्राप्त अनुभव को कलात्मक सर्जन के स्तर पर प्रस्तुत करने के लिए जीवनानुभव के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया से तटस्थ होना अनिवार्य स्थिति है। और जव जीवनानुभव का रूपान्तरण कलानुभव मे हो जाता है तो वह स्वाभाविक ही 'निर्वैयक्तिक' हो जाता है—चाहे जीवनानुभव के रूप मे वह कितना भी वैयक्तिक रहा हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि अज्ञेय ईलियट आदि पश्चिमी चिन्तको से प्रभावित हुए भी तो वे वहाँ से अपनी परम्परा को आधुनिक दृष्टि से व्याख्यायित एव रूपायित करने मे सहायता प्राप्त कर सके। वस्तुत. 'त्रिशकु' तो इस दिशा मे उनका आरम्भिक प्रयास मात्र है। यही कारण है कि दृष्टि के विकास एव परिष्कार के साथ-साथ वे अपनी परम्परा के अधिक समीप होते गए है और निश्चय ही सर्जनात्मक दृष्टिकोण से अनेक रसवादी आलोचको की अपेक्षा उन्होने इस दिशा मे अधिक मौलिक एव सराहनीय कार्य किया है।

---

१ आत्मनेपद, पृ० ४२

अज्ञेय की आलोचना में सत्य इस तथ्य का ऊपर अन्दाज किया जाता रहा है कि उन्होंने हमेशा अपनी परम्परा से जुड़ने का अस्पष्ट प्रयत्न किया है और यह कार्य निश्चय ही सरल नहीं है। परम्परा से जुड़ने की प्रक्रिया एक कष्ट-साध्य प्रक्रिया है। ऐतिहासिक परम्परा कोई पोटली बाँध कर रखा हुआ पाथेय नहीं है जिसे उठाकर हम चल निकलें। वह रस है जिसे हम बूँद-बूँद अपने में संचय करते हैं—या नहीं करते कोरे रह जाते हैं।[1] और सम्भवतः यह स्पष्ट करने की तो कोई विशेष आवश्यकता नहीं है कि परम्परा का बूँद-बूँद अपने में संचय करने में लगे कलाकार को परम्परा से विमुख तो कहा ही नहीं जा सकता चाहे उसने कितनी ही बूँदें संचय की हों। इस क्षेत्र में अज्ञेय की संचय धर्मी प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही है। यही कारण है कि त्रिशंकु के परिस्थिति और साहित्यकार निबंध के अन्त में निर्माण को आनन्द का हेतु मानते हुए जब वे टी० एस० ईलियट की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

क्योंकि फिर लौटने की आशा मैं नहीं कर सकता
इसलिए मैं आनन्दित होता हूँ कि कुछ गढ़ना पड़ेगा
जिसके आधार पर मैं आनन्दित हो सकूँ।[2]

तो वे भारतीय विचारणा से दूर नहीं लगते क्योंकि हमारे यहाँ तो सृजन मात्र ही आनन्द का हेतु है। और यही कारण है कि आत्मनेपद तक आते आते अज्ञेय इस सूत्र को पहचान लेते हैं कि कविता का मूल प्रयोजन आनन्द लाभ में है क्योंकि काव्य भी तो सृजन ही है—उच्चतर स्तर का मानसिक सृजन। इसलिए वे प्राचीन भारतीय आदर्श में अपनी आस्था स्पष्टतः घोषित करते हैं यह मुझे सर्वथा स्वीकार्य है कि प्राचीन कवियों की महत्ता का असल रहस्य यही है कि वे अहं को विलीन करके ही लिखते थे उनके लिए कविता स्वास्थ्य-लाभ का साधन नहीं बल्कि स्वस्थ

---

१ आत्मनेपद पृ० १

२ Because I cannot hope to turn again
Consequently I rejoice having to construt
Something upon which to rejoice
T S Eliot

व्यक्ति की आनन्द-साधना थी। ठीक आदर्श वही है यह मैं मानता हूँ; मेरी कविता उसकी अनुगामिनी नही है तो यह मेरी सीमा है।"[1] और यह आनन्द-लाभ ही तो हमारी समस्त काव्य-परम्परा के मूल मे है! भारत की रस-निष्पत्ति, रस-ध्वनि का सिद्धान्त, अथवा 'रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्' आदि उक्तियाँ भी इसी ओर सकेत करती है तथा अज्ञेय भी इनसे पूर्णतया परिचित है· "बडा कवि वाक्-सिद्ध होता था, और भी वड़ा कवि रससिद्ध होता था।"[2]

यही कारण है कि अज्ञेय साधारणीकरण की महत्ता को स्वीकार करते है और सिद्धान्ततः उससे सहमत भी होते है। काव्य जहाँ कवि के लिए आनन्द-साधना है वहाँ पाठक भी उसमे रस पाता है और अनेक तथाकथित आधुनिक कलाकारो के विपरीत अज्ञेय सृजेता कलाकार के अतिरिक्त भोक्ता पाठक, श्रोता या दर्शक की स्थिति को भी स्वीकार करते है . "अपनी अभिव्यक्ति—किन्तु किसपर अभिव्यक्ति? इसलिए अभिव्यक्ति मे एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ, और इसके परिणामस्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उससे मुझे कोई निस्तार नही दीखता।"[3] इस प्रकार सम्प्रेषण की समस्या अज्ञेय की दृष्टि मे कलाकार की प्रमुख समस्या है। आगे चलकर तो वे स्पष्ट घोषित कर देते है· "रचना केवल अभिव्यक्ति नही है, वह सम्प्रेषण है।"[4] ये उद्धरण स्पष्ट कर देते है कि अज्ञेय साधारणीकरण के सिद्धात को स्वीकार करते है। उनका विरोध दरअसल साधारणीकरण की उस रूढ प्रणाली से है जिसमे वधकर काव्यानुभूति की तीव्रता कम एव मौलिकता कृत्रिम हो जाती है "जब चमत्कारिक अर्थ भर जाता है, और अभिधेय वन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है, उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नही होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे राग का पुन सचार हो, पुन रागात्मक संवध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है। नही तो, अगर भाव भी वही जाने-

१ आत्मनेपद, पृ० ३४
२ तीसरा सप्तक . भूमिका, पृ० १७
३ आत्मनेपद, पृ० ३७
४. वही, पृ० ५६

पुराने हैं, रस भी और सचारी-व्यभिचारी सबकी तालिकाए वन चुकी हैं तो कवि के लिए नया करने को क्या रह गया है ? नया है जो कविता को आवृत्ति नही सृष्टि का गौरव दे सकता है ? कवि नये तथ्यो का उनके साथ नये रागात्मक सबध जोडकर नये सत्यो का रूप दे उन नये सत्यो को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है। इस नयी कविता का कवि नही भूलता, साधारणीकरण का उसका आग्रह भी कम नही है। बल्कि यह देखकर कि आज साधारणीकरण अधिक कठिन है वह अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक सजग है और उसकी पूर्ति के लिए अधिक बडा जोखिम उठाने को तैयार है।[1]

यह जोखिम वस्तुत कवि की प्रयोगशीलता ही है। अज्ञेय प्रयोग को वाद के रूप म स्वीकार नही करत। 'तार सप्तक' में उन्होने सभी कवियो को राहो के अन्वेषी कहा है। उसका अर्थ प्रयोगवादी नही है। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए ताजा भोजन की बात करनेवाले को पटु नही कहा जाएगा। लेकिन उनके वक्तव्य को तोड मरोडकर गलत समझे जाने के कारण ही उन्होने दूसरा सप्तक की भूमिका में स्पष्ट किया कि 'प्रयोग अपने आपमे इष्ट नही है। वह साधन है। और दोहरा साधन है। क्योकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनो को भी जानने का साधन है। अत प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। इसी कारण उन्होने माना कि प्रयोग का अपने आपमें कोई महत्त्व नही है। वह तभी सार्थक है जब कि वह कवि-सत्य को पाठक तक सम्प्रेषित भी कर सके क्योकि पारखी मोती परखता है गोताखोर के असफल उद्योग नही।'[2] लेकिन दूसरी ओर यह भी सही है कि जसे गोता लगाए बिना मोती प्राप्त नही किया जा सकता वसे ही प्रयोग का जोखिम उठाए बिना श्रेष्ठ काव्य रचना दुष्कर है। यही कारण है कि प्रत्येक समर्थ एव सार्थक कवि काव्य के क्षेत्र म कही न कही प्रयोग करता ही है। यह बात अज्ञेय ही नहो नये-पुराने

---

१ दूसरा सप्तक भूमिका पृ० १२
२ वही पृ ७-८

सभी आलोचक मानते है। अज्ञेय ने यदि प्रयोग पर अधिक बल दिया तो सिर्फ इसलिए कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ जहाँ रूढ हो गई हो तथा 'ज्ञान-विज्ञान की प्रवृत्ति विशेषीकरण की हो' तो यह अनुभव किया जा सकता है कि 'साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है।' इस सन्दर्भ में देखें तो अज्ञेय का प्रयोग पर आग्रह अनुचित नही लगेगा। और फिर अज्ञेय का यह आग्रह आत्यन्तिक भी नही है क्योकि प्रयोग की महत्ता को---विशेषत सक्रान्तिकालीन सन्दर्भ में—स्वीकार करते हुए भी वे मानते है: "केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नही बना देती।"[1] यहाँ अज्ञेय के शुभ मतव्य की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है क्योकि प्रयोग का महत्त्व वे 'वैशिष्ट्य के लिए नही, साधारणत्व के लिए' ही मानते है। 'व्यक्ति-सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाना वे आज भी कवि-कर्म का दायित्व मानते है। बल्कि यू कहे कि उनकी दृष्टि में यही समस्या कवि के लिए प्रमुख चुनौती है "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता मे पहुंचाया जाए—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[2]

इस प्रकार हम देखते है कि अज्ञेय का कवि साधारणीकरण के प्रयोजन से ही प्रयोगशीलता की ओर उन्मुख होता है और यह प्रयोगशीलता काव्य के उन आयामो को छूती भी है। इस दृष्टि से अज्ञेय को हिन्दी में नई कविता का पुरस्कर्ता कहा जाए तो अनुचित नही है। ऐसा नही है कि नया कवि साधारणीकरण में विश्वास नही करता है। उसका भी लक्ष्य वही है। लेकिन जटिल और विपरीत स्थितियो मे साधारणीकरण पहले जितना सुगम नही रह गया है। अत इसके लिए वह नई प्रणाली का अन्वेषण करता है और इस अन्वेषण मे उसे उपलब्धि भी होती है। हिन्दी कविता का पूरा विकास इस बात का प्रमाण है कि साधारणीकरण के पहलू पर अज्ञेय के विचार अधिक सुसगत एव समयसम्मत रहे है। सम्प्रेषण की चुनौती को नई कविता ने साहस के साथ झेला है और उसमे पर्याप्त मात्रा मे साधारणीकरण हुआ भी है। यद्यपि नये कवि के लिए यह कार्य अपने

---

१ दूसरा सप्तक, पृष्ठ ८

२ आत्मनेपद, पृ० ३७

अग्रजा से अधिक दुष्कर था लेकिन अपनी सीमाओ के बावजूद उसने काव्य धारा को नया मोड दिया है। यदि कहीं वे सफल नहीं हुए तो यह उनकी विवशता हो सकती है—लेकिन उनका आदर्श वही है। कविता या साहित्य शब्द की कला है और शब्द की तो मूल प्रवत्तिगत उपादेयता ही सप्रेषण में है अत इस माध्यम को अपनाने वाले कलाकार का आदर्श भी निश्चित ही वही रहता है। परिस्थितिवश या क्षमतावश यदि वह इसमें पूर्ण सफल नहीं हो पाता तो जहा तक सफल हो पाता है वह भी श्रेयस्कर है 'भाषा उनके व्यवहार का माध्यम है, और उसकी माध्यमिकता इसीमें है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो अन्यथा वह भाषा नहीं है। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ, अलौकिक अथवा दीक्षा द्वारा गम्य (एसोटेरिक) हो जाना अनिवार्य है किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं विवशता है, धर्म नहीं आपद्धर्म है।'[1] लेकिन वे यह भी मानते है कि साधारणीकरण का सम्पूर्ण दायित्व कवि या लेखक का ही नहीं ग्राहक का भी है क्योंकि 'किताब और खोपडी के टकराने से खोखली टकार हो तो क्या सदव किताब ही दोषी होती है?' और फिर भावक के सहृदय होने की आवश्यकता सिद्धांतत तो घोर रसवादी आलोचक भी मानेगा ही।

मौलिकता एव साधारणीकरण के प्रयोजन से प्रयोग तो सभी काला के कवि करते आ रहे हैं पर यह भी निश्चित-सा ही है कि एक विशिष्ट युग में प्रयोग की प्रवृत्ति एक विशिष्ट दिशा की ओर रही है। नये कवि के सम्मुख यहाँ भी थोडी दुविधा है क्योंकि उसके प्रयोग एकोन्मुख नहीं रहे। अज्ञेय तीसरा सप्तक की भूमिका में स्पष्ट निरूपण कर देते है कि आधुनिक कवि की प्रयोगशीलता के प्रमुखत तीन आयाम रहे है भाषा वस्तु व शिल्प। अज्ञेय के भाषा सम्बन्धी चिंतन पर विचार करने से पूर्व वस्तु एव शिल्प सम्बन्धी उनकी धारणा पर चर्चा अधिक उपयुक्त रहेगी जिससे भाषा सम्बन्धी मान्यताओ का विश्लेषण अधिक सहज हो जाएगा और दोहराव के दोष से भी बचा जा सकेगा।

तीसरा सप्तक की भूमिका में ही अज्ञेय ने स्पष्ट कर दिया था कि

---

1 आत्मनेपद पृ० ३८

नये विषय पर कविता लिखना ही आधुनिक हो जाना नही है—काव्य का प्रयोजन वस्तु से है और विषय एव वस्तु (कटेण्ट) अलग-अलग चीजे है : "· ·यह बिल्कुल सम्भव है कि हम काव्य के लिए नये से नया विषय चुने पर वस्तु उसकी पुरानी ही रहे, जैसे यह भी सम्भव है कि हम काव्य के लिए नये से नया विषय चुने पर वस्तु नई हो। ·· निस्सन्देह देश-काल की सक्रमणशील परिस्थितियो मे सवेदनशील व्यक्ति वहुत कुछ नया देखे, सुने और अनुभव करेगा, और इसीलिए विषय के नयेपन के विचार का भी अपना स्थान है ही, पर विषयकेवल 'नये' हो सकते है, मौलिक नही—मौलिकता केवल वस्तु से ही सम्वन्ध रखती है। विषय सप्रेष्य नही है, वस्तु सप्रेष्य है। नये (या पुराने भी) विषय की कवि की सवेदना पर प्रतिक्रिया और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव जो पाठक, श्रोता या ग्राहक पर पडते है और इन प्रभावो को सप्रेष्य वनाने मे कवि का योग (जो सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशत चेतन भी हो सकता है, और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्योकि यही कवि-मानस की पहुँच और उसके सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँ तक कवि नयी परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने मे रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि सवेदना का पुतला भर न वना रहकर उसे वश करके, उसीके सहारे उससे ऊपर उठकर उसे सम्प्रेष्य वनाता है), इसीसे हम निश्चय करते हे कि वह कितना वडा कवि है।'[1]

इस उद्धरण का यदि सूक्ष्म विश्लेपण किया जाए तो कई वाते स्पष्ट होती है। जव अज्ञेय वस्तु की मौलिकता की वात करते है तो वस्तुत वे अनुभूति की प्रामाणिकता एव वैशिष्ट्य पर जोर दे रहे होते हैं क्योकि कविता मे वस्तु से तात्पर्य विषय के प्रति कवि के सवेदन-व्यापार और इस प्रकार, दूसरे शब्दो मे, उसकी अनुभूति के स्वरूप से है। अव प्रश्न उठ सकता है कि अनुभूति नयी एव मौलिक होती कैसे है ? इसका समाधान भी उपर्युक्त उद्धरण मे प्राप्त है जव कि इस प्रश्न को लेकर अज्ञेय के आलोचको ने काफी वावेला मचाया है। अज्ञेय अनुभूति की मौलिकता एव नये-

१ तीसरा सप्तक भूमिका, पृ० १५

पन की कसौटी यही मानते हैं कि कविता में नई परिस्थितियों का जायजा कहां तक मिलता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से अज्ञेय काव्य प्रक्रिया में देश काल की महत्ता का स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि परिवर्तनशील देश-काल के अनुसार कवि की संवेदना भी प्रभावित होती रहती है और उस प्रभाव को स्वस्थ मनोवृत्ति से ग्रहण करना कवि कर्म की प्राक् आवश्यकता है। यह प्रभाव सूक्ष्म मानसिक स्तर पर होता है। अज्ञेय मानते हैं कि काव्य की वस्तु मानवीय ही हो सकती है क्योंकि 'वह विषय के साथ कवि के रागात्मक सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब होगी—एक संवेदना या चेतना की अपने से इतर के साथ परस्पर प्रतिक्रिया से उद्भूत वस्तु।'[1] अतः स्पष्ट है कि नयी परिस्थितियों के आविर्भाव का प्रभाव रागात्मक सम्बन्धों व संवेदना प्रणाली पर पड़ता ही है और स्वाभाविक है कि कवि की संवेदना प्रणाली भी उससे प्रभावित हो। इस प्रकार एक सूक्ष्म एवं बुनियादी स्तर पर कवि देश काल से प्रभावित होता है। अतः वस्तु के क्षेत्र में प्रयोग का तात्पर्य यही है कि कवि रागात्मक-व्यापार की नयी प्रणाली को अपने काव्य में स्थान दे क्योंकि अन्ततोगत्वा काव्य के विकास का आधार संवेदना का विकास ही है। आधुनिक स्थितियों में अज्ञेय यदि प्रयोग पर बल देते हैं तो इसीलिए कि हमारे युग में परिस्थितियाँ सतत् परिवर्तनशील हैं और नयी समस्याओं के आगे सभी मूल्य संदिग्ध हो रहे हैं।

जीवन की प्रक्रिया का यह बढ़ता हुआ ज्ञान जीवन की यान्त्रिक गति का यह बढ़ता हुआ परिचय अपने आपमें एक समस्या है। जितना ही अधिक हमारा जीवन सतह पर आता जाता है उतनी ही सतह बढ़ती जाती है अर्थात उसके अनुपात में आभ्यन्तर जीवन उतना ही छोटा होता जाता है इस प्रकार संवेदना में द्विभाजन हो जाता है द्विभाजन को दूर करना सतह और गहराई के विरोध का हल करना यह साहित्यकार की भीतरी समस्या है—गहराई की समस्या है।[2] स्पष्ट है कि इस द्विभाजन को दूर करने के लिए किसी बने-बनाए प्रचलित नुस्खे का अमल में नहीं

---

1 आत्मनेपद पृ० १६६
2 हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य पृ० २२ २०

लिया जा सकता क्योकि यदि उनका कुछ प्रभावी उपयोग हो सकता तो सम्भवत यह विभाजन हुआ ही न होता। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक है कि कवि या कोई भी कलाकार अपने क्षेत्र मे इसके समाधान के प्रयोजन से अन्वेषण करे। 'वस्तु' के क्षेत्र मे प्रयोग से तात्पर्य यही है। और फिर अज्ञेय तो यह भी मानकर चलते है कि मात्र प्रयोग से ग्राहक का कोई मतलव नही है—प्रयोग उसके लिए तभी महत्त्वपूर्ण है जब वह सफल एव सार्थक हो।

वस्तु का शिल्प से कितना गहरा सवध है, इसपर अधिक चर्चा की आवश्यकता नही होनी चाहिए। जिस प्रकार अभिनय मे एक विशेष सवाद को वोलने के लिए उसीके अनुरूप रग-सज्जा, और मुद्रा अनिवार्य होती हैं—अन्यथा उस सवाद का अपेक्षित प्रभाव नही रहता—वैसा ही कविता मे भी है। कवि की प्रत्येक अनुभूति विशिष्ट होती है और उसे अनुकूल शिल्प मे ही अधिक प्रभावी ढग से अभिव्यक्त किया जा सकता है। नयी कविता का ही क्यो, पहले का कवि भी भाव एव सन्दर्भ के अनुकूल शिल्प व छन्द का ध्यान रखता था। यही कारण है कि छन्द-वद्ध वैदिक मत्र के पाठ की एक विशिष्ट लय रहती थी और वाचक के स्वर का तदनुरूप आरोह-अवरोह ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करने मे सहायक सिद्ध होता था। और जिस प्रकार संगीत मे प्रत्येक राग का एक अपना विशिष्ट प्रभाव होता है, वैसा ही प्रत्येक छन्द के साथ भी है। तुलसीदास यदि 'रामचरितमानस' के लिए सवैया या कवित्त का उपयोग लेते तो निश्चय ही इतने अधिक सफल न होते। वस्तुत. दोहा और चौपाई दोनो ऐसे छन्द है जिनकी लय मे विविधता की थोडी गुजाइश है, अत. वहा विभिन्न भावो की सफल अभिव्यजना होने की भी अधिक गुजाइश है। क्रोध की अनुभूति को यदि मन्दाक्रान्ता छन्द के माध्यम से सप्रेषित करने का प्रयत्न किया जाए तो क्या वह इच्छित प्रभाव पैदा करेगा ? अतः अज्ञेय का यह कथन अनुचित नही लगता : "वस्तु से रूपाकार को विल्कुल अलग नही किया जा सकता, कि दोनो का सामंजस्य अधिक समर्थ और प्रभावशाली होता है।"[1]

अतः जव कवि के सम्मुख नयी वस्तु है और उसकी सवेदना की वना-

---

१. तीसरा सप्तक . भूमिका, पृ० १७

घट पूवगामी कवियो स अलग है तो उस स्पावार भी अलग ही चुनना होगा। यह स्पाकार चुनने में उसे प्रयाग भी करने ही होगे यदि यह दपा उसका तत्र या टेक्नीक आधुनिक जीवन की लयसे प्रभावित होगा और इस प्रकार वह अनजाने ही नयी छन्द ध्वनि का आविष्कार कर रहा होगा। ये प्रयोग बिल्कुल नयी भूमि पर भी किए जा सकते हैं और पारम्परिक छन्दो की भूमि पर भी। यहा गुजराती के प्रसिद्ध कवि-समीक्षक श्री उमाशकर जोशी की बात याद आती है। निशीथ रचना का जन्म बम्बई का लोकल ट्रेन में, रात को उपनगर लौटते समय कवि श्री मघाणी की मेरे नाम लिखी गई चिट्ठी के कोरे हिस्से पर कुछ पक्तिया के साथ हुआ था। इसमें छन्द वदिक-सा प्रयुक्त करने पर भी लोकल ट्रेन के गति आन्दोलन प्रवेश पा चुके हैं।'[1] और यहा यह सकेत करना प्रसगान्तर न होगा कि श्री जाशी की कविता की सफलता में छन्द की इस विशिष्ट बुनावट का भी अपेक्षित योग रहा है। टी० एस० ईलियट के हवाले से एफ० आर० लीविस का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि रोल्स रायस के कविता में प्रवेश का तरीका यही होगा कि आधुनिक कवि की लय ग्राह्यता उसके आतरिक दहन एजिन से प्रभावित होगी और कविता की सरचना स्वय उसके आधुनिक होने का प्रमाण देगी।[2] वस्तुत कविता की लय और बुनावट प्रयुक्त भाषा की स्वाभाविक प्रवत्ति और ध्वनि वशिष्ट्य स सदा प्रभावित होती रही है। अत भाषा के विकास क साथ ही साथ कविता क शिल्प का विकास सहज स्वस्थ एव विकासशील

---

१ निशीथ और अय कविताए हिन्दी सस्करण पृष्ठ १७

२ If the Rolls Royce enters significantly into poetry it will be, perhaps in some such way as M T S Eliot suggests when he says that problably the modern s perception of rhythm has been affected by the internal combustion enugine All that we can fairly ask of the poet is that he shall show himself to have been fully alive in our time The evidence will be in the very texture of his poetry

—New Bearings in English Poetry p 27

प्रवृत्ति है।

इस रूप मे देखने पर अज्ञेय का शिल्प के क्षेत्र मे भी प्रयोग का आग्रह अनुचित नही लगता। क्योंकि काव्य-वस्तु, कवि-सवेदना और भाषा के विकास के साथ-साथ तत्र का विकास सहज ही नही आवश्यक भी हो जाता है। यही कारण है कि अज्ञेय माइकेल मधुसूदन दत्त और हिन्दी मे निराला द्वारा किए गए प्रयोगो की अनवरत प्रशसा करते रहे है। इस क्षेत्र मे वे निराला का वही स्थान मानते हैं जो रशियन मे मायकोव्स्की का है। अज्ञेय इन प्रयोगो का आधार पारम्परिक छन्दो तथा उनसे भी अधिक भाषा के लोक-मुहावरे को मानते हैं। उनकी दृष्टि मे अग्रेजी-काव्य मे नये छन्दो के प्रयोक्ताओ का मूल आधार भी लोक-भाषा का प्रवाह ही है "पिछली शती मे जेराल्ड मैनली हॉपकिन्स की कविता का जो प्रभाव अग्रेजी काव्य-रचना और छन्द पर पडा उसका श्रेय वास्तव में वेल्स भाषा को ही मिलना चाहिए—हॉपकिन्स का वेल्स सस्कार ही उसकी अग्रेजी कविता मे प्रकट हुआ और उसीने हॉपकिन्स को छन्द-सबधी नयी दृष्टि दी। हमारी पीढी के डायलन टॉमस का प्रभाव भी उतना ही स्थायी होगा या नही, अभी यह कहना भवितव्य-दर्शिता का दावा करना होगा, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि वह प्रभाव गहरा और व्यापक हुआ है। अपने समकालीन दूसरे कवियो से टॉमस की कविता सुनने मे कितनी भिन्न है, यह अनुभव से ही जाना जा सकता है · नही तो इसका अनुमान भी कठिन है कि एक ही भाषा के प्रकार, सुनने मे एक-दूसरे से इतने भिन्न हो सकते है।"[1] यहा यह कहने की आवश्यकता नही है कि लोक-भाषा का सबध मात्र वर्तमान परि-स्थितियो से ही नही वरन् अपनी सास्कृतिक परम्परा से भी रहता है और इस प्रकार अज्ञेय प्रकारान्तर से शिल्पगत प्रयोगो के माध्यम से भी विकसन-शील सास्कृतिक परम्परा से जुडने एव उसके विकास का ही मतव्य प्रकट करते है।

काव्य मे प्रयोग का एक और क्षेत्र भाषा है जिसका सबध अज्ञेय की दृष्टि मे 'नयी कविता की प्रयोगशीलता' के पहले आयाम से है। यहा फिर अज्ञेय प्रयोग के वाद की सीमा तक नही ले जाना चाहते वलिक वे उन प्रपद्यवादियो

---

१ एक बूंद सहसा उछली, पृ० १७६

के मतव्य स असहमति भीप्रकट करतेहैं जा भाषा म नयरहस्यवाद' वा जन्म देने को उत्सुक है। वस्तुत अज्ञेय की भाषा-सबधी मान्यता शब्द शक्तियो की भारतीय विचारणा क अधिक निकट पड़ती है और वे काव्य में शब्द की व्यजना शक्ति पर ही जोर देते हुए प्रतीत होते हैं। प्रत्येक कवि अपनी सवेदना के अनुकूल मुहावरे की तलाश में रहता है। जिस प्रकार छायावादी कवि की भाषा इतिवृत्तात्मक भाषा स अलग व विशिष्ट थी (क्योंकि छायावादी कवि की सवेदना भी द्विवेदी-युगीन कवियो स अलग था) उसी प्रकार नयी कविता के कवि के लिए भी अनिवार्य था कि वह अपनी सवेदना व काव्य-वस्तु के अनुकूल भाषा की खोज कर। भाषा की खोज का अर्थ अपने कथ्य के अनुकूल मुहावरा गढ़ने स ही है। कवि-कर्म में प्रथम स्तर पर ही यह समस्या कवि के आगे खड़ी रहती है और इससे उसकी मुक्ति कहीं नहीं है। प्रत्येक कवि का भाषा को एक नया सस्कार देना होता है— यह कर्तव्य उसके कवि-कर्म को स्थायी चुनौती है। इसीलिए अज्ञेय मानते है प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया सस्कार देता है। इसीके द्वारा पुराना शब्द नया होता है— यही उसका कल्प है। इस प्रकार शब्द वयक्तिक प्रयोग भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है दुरूह भी हो जाता है और बोधगम्य भी पुराना परिचित भी रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी।"[1]

वास्तव म काव्यगत प्रत्येक शब्द के पीछे शत शत एव रूढ सन्दर्भ जुड जाता है और फिर उस शब्द कीव्यजना शक्ति अभिधाके स्तर पर आ जाती है। अत कवि के लिए यह समस्या सदव बनी रहती है कि वह उस रूढार्थ स परे शब्द म वह ध्वनि कसे स्थापित करे जो उसकी अपनी सवेदना को ताजगी के साथ वहन कर सके। और जब काव्य-वस्तु भी नयी होती है तो उसका यह दायित्व दोहरा हो जाता है क्योंकि उसे बिल्कुल भिन्न अर्थ की प्रतिपत्ति करनी पड़ती है। इस दृष्टि से देखने पर अज्ञेय का यह कथन उचित जान पड़ता है कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बडी समस्या का सामना कर रहा है—भाषा की क्रमश सकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाडकर उसम नया, अधिक व्यापक अधिक सारगर्भित

१ तीसरा सप्तक पृ० १४

अर्थ भरना चाहता है---और अहकार के कारण नही, इसलिए कि उसके भीतर इसकी गहरी माग स्पन्दित है।"[1]

लेकिन इस चुनौती को स्वीकार करने, उससे सघर्ष करने और उसपर विजय प्राप्त करने मे ही कवि-कर्म की सफलता निहित है। इसी कारण अज्ञेय शब्द की व्यजना-शक्ति को ही प्रमुख मानते है और उसके अभिधात्मक होने पर, जिसे अज्ञेय 'गुलाबी' शब्द के विश्लेषण द्वारा 'दूसरा सप्तक' की भूमिका मे स्पष्ट करते है, शब्द को नया अर्थ-सस्कार देना कवि का धर्म हो जाता है।

कालिदास के 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' के हवाले से वे कहते है कि अभिधेय अर्थ के लिए प्रार्थना की आवश्यकता नही "अभिधेयार्थ युक्त शब्द तो वह मिट्टी, वह कच्चा माल है जिस से वह रचना करता है; ऐसी रचना जिसके द्वारा वह अपना नया अर्थ उसमे भर सके, उसमे जीवन डाल सके। यही वह अर्थप्रतिपत्ति है जिसके लिए कवि वागर्थाविव सम्पृक्त 'पार्वती-परमेश्वर"की वन्दना करता है। और इस प्रार्थना को निरा वैचित्र्य या नयेपन की खोज कहकर उडाना चाहना कवि-कर्म को बिलकुल न समझते हुए उसकी अवहेलना करना है।"[2]

इस प्रकार भाषा के क्षेत्र मे अज्ञेय का तात्पर्य शब्द को नये अर्थ से सम्पृक्त करना ही है और यह प्रक्रिया दोहरी है क्योकि शब्द को नया अर्थ देना प्रकारान्तर से नयी प्रकार की सवेदना को अभिव्यक्ति देना है .

यह नही कि मैंने सत्य नही पाया था
यह नही कि मुझको शब्द अचानक कभी-कभी मिलता है
दोनो जब-तब सम्मुख आते ही रहते है
प्रश्न यही रहता है·
दोनो जो अपने बीच एक दीवार बनाए रहते है
मैं कब, कैसे उनके अनदेखे
उसमे सैंध लगा दूं
या भरकर विस्फोटक

१. आत्मनेपद, पृ० ३७
२. दूसरा सप्तक · भूमिका, पृ० १२

उसे उड़ा दूँ।

ये दाना जो
गला गला-कूगरे से तन भर रहा है
मय कम विग आनाग स्पुरण म
इह मिना दू
दाना जो हैं यपु सगा निर सहचर मर।'[1]

इस प्रकार भाषा की प्रयोगशीलता सवेदना एव शिल्प की प्रयोग शीलता को भी अधिकांश अपने म समझनी है और अज्ञेय का यह कथन सगत लगता है जिन्होंने शब्द को नया कुछ नही दिया है व लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नही हैं—भले ही जो लीक वे पीट रहे हैं वह अधिक पुरानी न हो।[2]

इस प्रकार अज्ञेय भाषा को कसौटी बनाकर काव्य मूल्याकन की प्रणाली का प्रवेश हिन्दी में करा देते हैं जिस लेकर कई अनुवर्ती आलोचको ने काफी सन्दभच्युत शोरगुल मचाया है। वस्तुत अज्ञेय हिंदी के प्रथम कवि-समीक्षक हैं जिन्होंने काव्य भाषा पर इतनी गहराई से विचार किया है और यह विचार जहाँ पश्चिमी भाषावादी आलोचको के समकक्ष है वहीं भारतीय काव्य परम्परा की शब्द शक्तियो की मूल सकल्पना स भी विच्छिन्न नही है—या कहें कि उस मूल धारणा के आधार पर सक्रमणकालीन स्थितियों में हिन्दी भाषा की एक नयी अर्थवत्ता देने की पेशकश की गई है।

इस सन्दभ में लेखक पर यह अस्वाभाविक नही लगता कि अज्ञेय प्रारम्भ स ही नयी प्रतीक-योजना और नये उपमानो की स्थापना पर जोर देते रहे हैं। जिस प्रकार शब्द अधिक प्रयोग से घिस जाता है और उसे नया सस्कार देना पडता है वैसा ही प्रतीको के साथ है क्योंकि शब्द भी अन्ततोगत्वा प्रतीकधर्मी ही होता है। यही कारण है कि अज्ञेय ने पुराने

---

1 अरी ओ करुणा प्रभामय पृ 16
2 तीसरा सप्तक भूमिका पृ 14

प्रतीको की शक्तिहीनता को पहचाना और नये प्रतीको की खोज की वता की :

अगर मैं तुमका
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अव नही कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हाई कुँई
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
यह नही कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है

वल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गए है।
देवता इन प्रतीको के कर गए है कूच

कभी वासन घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।[1]

लेकिन इस आधार पर अज्ञेय को फ्रेंच प्रतीकवादियो से जोडना निश्चय ही गलत होगा—जैसा कि शिवदानसिंह चौहान जैसे आलोचक करते रहे है. "प्रयोगशीलता की ओट मे 'अज्ञेय' 'प्रतीकवादी' विचारधारा को साहित्य मे प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे है।· ·उनकी कविता प्रतीकवादी है।···यद्यपि वादो से ऊपर सिद्ध करने के लिए वह अपने को 'प्रयोगशील', किसी मजिल तक पहुँचे हुए, या किसी राह के राही नही वल्कि 'राहो के अन्वेषी' ही घोषित करते है, जिससे प्रतीकवाद 'प्रयोगशीलता' के छद्म वेश मे तरुण प्रतिभाओं को आकर्षक और ग्राह्य लगे। इसलिए 'अज्ञेय' के हाथ में पडकर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नही रहा, वल्कि उसे खैरवाद कहने का साधन वनता गया है और उनकी देखा-देखी या उनसे प्रभावित होकर प्रतीकवाद की शैली को अपनाने वाले अन्य तरुण तथा प्रगतिशील चेतना के कवियो

---

१ 'पूर्वा', पृ० २४४

के लिए भी वह पाठका तक पहुँचने के माग में एक बाधा बन गया है।"[1] लकिन यहा यह ध्यातव्य है कि अज्ञय मलार्मे बोदलेयर आदि प्रतीकवादी कविया की सभी काव्यगत—बल्कि प्रतीकगत—मायताओ से सहमत नही होत। अज्ञेय बोधगम्यता को आवश्यक मानत हैं और उनके सभी प्रतीक बोधगम्य हैं भी जब कि मलार्मे तो मानते हैं कि प्रतीक बोधगम्य हो ही नही सकता। प्रतीकवादी कविया की तरह बुद्धि का तिरस्कार भी अज्ञय के यहाँ नही है। नयी प्रतीक-योजना पर बल देन का तात्पय प्रतीकवादी हो जाना नही है क्योंकि युगानुकूल प्रतीक खोजने का काय तो सभी समथ कवि करते ही आए हैं। अज्ञेय भी इसी पष्ठभूमि के आधार पर नये प्रतीको की खाज करना चाहते हैं जो नयी सवेदना और परिवतनशील युग को अभिव्यक्ति द सकें। इसी कारण जब वे अपनी प्रमिका को 'बिछली घास' या 'कलगी छरहरी बाजर की' कहत हैं ता उसका स्पष्टीकरण भी देते हैं

आज हम शहरातिया को
पालतू मालच पर सँवरी जुही के फूल से
सृष्टि क विस्तार का—एश्वय का —
औदाय का—
कही सच्चा कहीं प्यारा
एक प्रतीक
बिछली घास है,
या शरद की साझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलगी अकेली
बाजरे की।[2]

यहा यह भी ध्यातव्य है कि अज्ञेय की यह प्रतीक-योजना जहा ताजा है वहा रुमानी कुहर से भी मुक्त तथा अधिक स्वस्थ है। वास्तव म यदि काव्य उन्ही घिसे-पुरान प्रतीको के आधार पर ही चलता जाएगा ता निश्चय ही मृतवत् हो जाएगा क्योंकि जनमानस क परिवतन के साथ

---

१ आलोचना, अक २ सपादकीय
२ पूर्वा पृ० २४५

साथ उसकी परिवर्तित सवेदना का पुराने प्रतीक वहन नही कर पाते और तव जन-मानस उस साहित्य से रागात्मक सम्वन्ध भी स्थापित नही कर पाता। इस सम्वन्ध मे अज्ञेय का यह वक्तव्य द्रष्टव्य है "कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य प्रतीको की, नये प्रतीको की, सृष्टि करता है, और जव वैसा करना वन्द कर देता है तव जड हो जाता है—और जव जड हो जाता है तव वैसा करना वन्द करके पुराने प्रतीको पर ही निर्भर करने लगता है। ··· · जन-साहित्य सदा से और सवसे अधिक प्रतीको व अन्योक्तियो के सहारे ही अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। यह चीज हम सस्कृत मे पाते है ··फिर नही पाते तो हिन्दी के उस काल मे जव उसका काव्य सामन्तो का मुखापेक्षी था। उसके वाद क्या हुआ ? यही कि सस्कृत से वह शक्ति अपभ्रशो मे और फिर लोक-साहित्य मे चली गई, और सामन्ती साहित्य अधर मे रह गया। रीति-काव्य मे प्रतीक सवसे कम है, लोक-काव्य और लोक-गाथा मे सवसे अधिक।"[१]

अज्ञेय प्रतीक को काव्य मे सत्यान्वेषण का साधन मानते है। उलझी हुई, अस्पष्ट एव रहस्यात्मक अनुभूति को स्पष्ट करने मे प्रतीक-योजना जितनी सहायक हो सकती है—उतना अन्य काव्याग नही। वास्तव मे गहरी एव व्यापक अनुभूति को जितने प्रभावी स्तर पर प्रतीक-योजना के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है, उतना अन्य प्रकार से नही। हाँ, उस प्रतीक को उस स्तर पर तो प्रतिष्ठित करना ही होता है जहाँ वह सभी का प्रतीक वन सके—सवेद्य हो सके। मात्र चमत्कार-सृष्टि एव व्यक्ति-वैचित्र्य के लिए प्रतीक-योजना निश्चय ही स्वस्थ मनोवृत्ति नही है। अत यहाॅ फिर स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रतीकवादी' होना अपने-आपमे कोई उपलब्धि नही है। प्रतीक भी अन्ततोगत्वा साधन ही है। अज्ञेय कहते है "प्रतीक वास्तव मे ज्ञान का एक उपकरण है। जो सीधे-सादे अभिधा मे नही वधता, उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते है।"[२] यही कारण है कि जहाॅ निरन्तर नये प्रतीको की सृष्टि होती रहती है, वहाॅ कुछ पुराने प्रतीक भी सदा जीवन्त वने रहते है क्योकि "जो

---

१ आत्मनेपद, पृ० ४१
२ वही, पृ० ४५

जिज्ञासाए सनातन हैं उनका निराकरण करने वाले प्रतीक भी सनातन हो जाते हैं।[1]

इस सारे विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय काव्य को एक गहरे एव बुनियादी स्तर पर सस्कृति से जोड़ते है। उनकी दृष्टि में काव्य की मूल वस्तु स्थूल सामाजिक स्थितियाँ एव आन्दोलन नही वरन् एक सूक्ष्म स्तर पर जन मानस में होनेवाली हलचल है जो उसकी सवेदन प्रणाली को बुनियादी तौर पर प्रभावित करती है। अज्ञेय की विचारणा में भाषा—वल्कि शिल्प—भी सस्कृति से सपृक्त है क्योकि वे मानते हैं कि भाषा एव रूपाकार भी काव्य-वस्तु तथा सवेदना के तदनुरूप ही हो सकते हैं। और इसीमें उनकी सार्थकता है। सस्कृति स्थूल घटनाओ में नही उनके प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया में प्रकट होती है अत अज्ञेय भी काव्य को उसी मानसिक स्तर से जोडना चाहते हैं—स्थूल घटनामात्र से नही। इसी कारण काव्य में उनका आग्रह तथ्य' के सत्य में रूपान्तरण पर है। तथ्य का यह रूपान्तरण तभी सम्भव है जब हम उससे मानसिक स्तर पर अपने को सपृक्त करते है।

वस्तुत सस्कृति से जुडने के कारण ही अज्ञेय नीति के प्रश्न से काव्य को—कलामात्र को ही—विरक्त नही मानते और इस प्रकार वे सीधे समाज से जुट जाते है। साहित्य को लोक कल्याण का हेतु वे आज भी स्वीकार करते हैं—अन्यथा स्वस्थ व्यक्ति का आनन्द-साधना कहा सम्भव है! इसी कारण उनके मतानुसार सौन्दर्य एव शिवत्व दोनो का समन्वित रूप साहित्य में उद्घाटित होता है क्योकि दोनो ही मनुष्य के विवेक से उद्भूत है बुद्धि और जिसपर बुद्धि आधारित है वह अनुभव—निरन्तर विकासशील और सस्कारशील है। निरन्तर सूक्ष्मतर होती हुई सवेदना एकागी भी हो सकती है पर जहाँ सृजनात्मक शक्ति है वहाँ एकागिता की सभावना कम है और पुष्ट सौन्दर्य बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है इसीलिए कला हमें आनन्द भी देती है हमारा उन्नयन भी करती है।[1]

नैतिक नीति से अज्ञेय का तात्पर्य किसी प्रचलित नीति विधान से नही है। पुष्ट नैतिक बोध से उनका तात्पर्य व्यक्ति के अपने विवेका

१ आलोचना अक ६ पृ० १३२

नुकूल आचरण से है पर इसका तात्पर्य समष्टि का विरोध नही है क्योकि व्यक्ति और समाज मे कोई अनिवार्य विरोध नही है—वह तभी होता है जव दोनों मे से कोई विवेक को तिलाजलि दे दे। और फिर कला का संवध व्यावहारिक नीति विज्ञान से नही वरन् मूल नैतिक मूल्यों से रहता है : "अगर नीतिशास्त्र से—युगीन नैतिकता से—जरा भी इधर-उधर नही हटना है तव तो नैतिक सघर्ष का चित्रण ही नही किया जा सकता। और प्रचलित नैतिकता का समर्थन भर कर सकने के लिए कला की साधना, कम-से-कम मुझे तो व्यर्थ मालूम होती है—और मेरा विश्वास है कि किसी भी कला-साधक को व्यर्थ मालूम होगी। क्योकि कला को नैतिकता के प्रचालित रूप से कोई लगाव नही है—उमे तो नैतिकता के वुनियादी स्रोतों से मतलव है।"[1] और नैतिकता के वुनियादी स्रोत सदैव सामाजिक विकास एव लोक-कल्याण की भावना से उद्भूत होते है—प्रचलित रूप तो कई वार अमगलकारी भी हो सकते हे—होते है। जव कि अज्ञेय काव्य की उपादेयता लोक-मगल मे ही मानते हे—चेतना का सस्कारित होना लोक-मगल के प्रयोजन को ही सिद्ध करता है.

सुनो कवि ! भावनाएं नही हैं सोता
भावनाए खाद हें केवल
जरा उनको दवा रखो

× × ×

अधेरी तहो की पुट मे पिघलने और पटने दो
रिसने और रचने दो
कि उनका सार वनकर चेतना की धरा को कुछ उर्वरा कर दे
भावनाए तभी फलती है कि उनसे लोक के
कल्याण का अकुर कही फूटे।[2]

इस प्रकार अज्ञेय का यह कथन काव्य के प्रति भारतीय दृष्टि के अनुरूप ही पडता है "कला हमे आनन्द भी देती है, हमारा उन्नयन भी करती है।" इसीलिए वे काव्य को 'व्यक्तित्व की खोज' की सज्ञा से अभिहित करते है।

---

१. आतमनेपद, पृ० ६७
२ पूर्वा, पृ० २२६-३०

लेकिन लेखन द्वारा समाज के प्रभावित होने की यह प्रक्रिया भी बहुत गहरी एवं सूक्ष्म है। कला के माध्यम से अपने को बदलकर ही वह समाज को प्रभावित कर पाता है क्योंकि अपने को बदलते समय वह व्यक्ति को मूल्य रूप में देखता है 'लेखक सिवा अपने के कुछ को नहीं बदलता सिवा कला की समस्या के कोई समस्या हल नहीं करता। उसमें कोई समाज-परिवर्तनकारी शक्ति आती है या उसकी कृतियों का कोई ऐसा प्रभाव होता है तो इसीलिए कि वह केवल अपने को बदलने के शुद्ध आग्रह के कारण व्यक्ति को एक अक्षय्य सामाजिक मूल्य या प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित करता है और समाज में मूल्य की प्रतिष्ठा ही उसका सच्चा सामाजिक कर्म है।'[1] समस्या को इस स्तर पर लेने के कारण ही लेखक सामाजिक मूल्यों को—संस्कृति को—बुनियादी स्तर पर प्रभावित करता है।

---

१ आत्मनेपद पृ० ६० ६१

संवेदना की तराश

कवि दार्शनिक होता भी है और नही भी। होता इस अर्थ में है कि उसका भी उद्देश्य सत्य की प्राप्ति रहता है और क्षेत्र मानव-जीवन। लेकिन दार्शनिक और कवि की पद्धति एव पहुच (Approach) मे अनिवार्य अन्तर रहता है। दार्शनिक की पद्धति मूलत तर्कमूलक एव तथ्यात्मक रहती हे और वह सत्य को भी तथ्य रूप मे रखने का आग्रही होता हे। दूसरे शब्दो मे, उसका रास्ता पद्धति-निर्माण का रास्ता है। इसके विपरीत कवि की पद्धति मूलत सवेदनामूलक तथा पहुच अनुभूत्यात्मक रहती है। अत सत्य का सीधा साक्षात्कार ही उसका इष्ट है। यही कारण हे कि कोई भी कवि किंवा कलाकार किसी विचार-धारा विशेष का ही वाहक होकर नही रह पाता और न उसकी रुचि पद्धति-निर्माण की ओर ही रहती है। वस्तुत कवि का कथ्य तथ्यात्मकता और दार्शनिकता से ऊपर होता है—जिसे सीधे-सादे अभिधा मे व्यक्त किया जा सके, उसके लिए कविता कौन करेगा ?

लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि कवि के पास कोई दृष्टि नही होती और जागतिक एव चैतनिक परिवर्तन तथा विकास से उसका कोई सपर्क नही रहता। सवेदनशील होने के कारण कवि-मानस पर इन परिवर्तनो का अपेक्षाकृत गहरा और स्थायी प्रभाव पडता है। लेकिन अनुभूतिमूलक होने के कारण यह प्रभाव यकसाँ नही पडता। प्रत्येक अच्छा कवि इस प्रभाव को वैयक्तिक स्तर पर ही ग्रहण करता हे और इसी कारण समान रूप से सजग किन्ही भी दो समकालीन मौलिक कवियो मे

हमें स्पष्ट भिन्नता दृष्टिगत होती है। यह भिन्नता मूलत उनकी काव्य सवेदना की भिन्नता है। इसी काव्य-सवेदना के स्वरूप विश्लेषण द्वारा हम किसी भी कवि की मूल अभिवक्ति जीवन दृष्टि तथा उसकी मौलिकता व गहराई स परिचित हो सकते हैं।

अज्ञेय की काव्य सवेदना के स्वरूप विश्लेषण से पूव हम सवेदना शब्द पर थोडा विचार करें जिससे हमारा मतव्य भी अधिक स्पष्ट हो जाए। हिन्दी-समीक्षा मे बहुत से शब्दा का प्रयोग अग्रेजी शब्दों के पर्याय के रूप में होता रहा है। इस कारण शब्द के मूल अथ पर किसीका ध्यान जाता ही नही। साधारणतया सवेदना शब्द का अग्रेजी के 'Sensibility' के माध्यम से समझाने की चेष्टा की जाती है जब कि सवेदना शब्द का अथ सभवत सेंसिबिलिटी स अधिक गहरा एव व्यापक है। सस्कृत के विद् से व्युत्पन्न होने के कारण इसका अथ अग्रेजी शब्द Sensation या Perception तक ही सीमित नही रहता बल्कि Knowledge एव Understanding भी इसी की सीमा में आ जाते हैं। इस प्रकार एक सीमा तक बौद्धिक चेतना भी सवेदना शब्द के अथ में समाहित है। इस रूप में किसी की सवेदना का अथ उसस इतर के साथ उसकी सबध चेतना है या कहे कि सवेदना मूलत मम और ममेतर की सबध चेतना है और यह एक सुखद जानकारी है कि कवि अज्ञेय भी सवेदना के अथ का इसी रूप में ग्रहण करते हैं सवेदना वह यन्त्र है जिसके सहारे जीव-यष्टि अपने स इतर सब कुछ के साथ सबध जोडती है—वह सबध एक साथ ही एकता का भी है और भिन्नता का भी क्योंकि उसके सहारे जहा जीव-यष्टि अपने स इतर जगत् को पहचानती है वहा उसस अपनेको अलग भी करती है।[1] इस प्रक्रिया में जीव के स्थान पर कवि शब्द रख दिया जाए तो काव्य सवेदना का अभिप्राय हमारे आगे स्पष्ट हो जाता है।

जसा कि प्रारम्भ में हा बात हो चुकी है चेतनिक एव भौतिकी परिवतनो का प्रभाव सवेदन प्रक्रिया पर पडता है और इसी कारण प्रत्यक युग की मानसिकता एव अभिवक्ति दूसरे युग स अलग रहती है। बल्कि यू कहें तो अधिक सगत होगा कि मानवीय सवेदना में व्यापक एव सूक्ष्म

---

[1] हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य पृ १३

स्तर पर परिवर्तन होना ही युग-परिवर्तन होना है क्योंकि "जीवन का स्रोत घटना का स्रोत नही है—वह चेतना का स्रोत है।"[1] और इसी आधार पर हम इतिहास के किसी भी युग को वखूवी समझ सकते है—अन्यथा इतिहास मात्र घटना-क्रम ही होकर रह जाएगा। यही वात काव्य-क्षेत्र मे है। किसी भी काव्य-युग को अथवा किसी विशिष्ट कवि को समझने के लिए उसकी सवेदना की निर्मिति को समझना आवश्यक है और इसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि विभिन्न चेतना-स्रोतो के उन प्रभावो का भी अध्ययन किया जाए जो उसने ग्रहण किए है।

अज्ञेय की काव्य-यात्रा मात्र उनके शैल्पिक विकास की ही यात्रा नही है। वह एक स्वस्थ एव उन्मुक्त कवि-मनीषी की अनवरत यात्रा है जो सभी ग्राह्य प्रभावो को निरन्तर सहज रूप से ग्रहण करती, आत्मसात् करती और इस प्रकार अपने को परिष्कृत, ताजा एवं पूर्ण करती चलती है.

> वह कैसी होती यात्रा
> जो पहुँचा कर चुक जाती
> झूठा होगा वह तीर्थ
> सरोवर, नदी, महासागर का जो न किनारा भर होता।
> जहाँ से अपने ही सकल्प
> न वन जाते ललकार
> नये अनजाने पानी में घुसने की।[2]

और कवि अज्ञेय 'नये अनजाने पानी मे घुमने' की इस ललकार को सदा स्वीकार करते रहे है। वस्तुत. अज्ञेय हिन्दी के प्रथम समर्थ कवि है जिन्होने अपनी सवेदना को विज्ञान की अधुनातन शोधो एव दर्शन की समस्त—पूर्वी और पश्चिमी—परम्परा से निरन्तर संस्कारित किया है और इस प्रभाव-ग्रहण को मुक्तमन से स्वीकार भी किया है. "प्रभाव की वात वद कमरे में की जा सकती है, खुले आकाश के नीचे इसकी वात करना अपने को हँसी का पात्र वनाना होगा।"

---

१. अरे यायावर रहेगा याद !, पृ० ३५
२ कितनी नावो मे कितनी वार, पृ० ६०

अज्ञेय का प्रारम्भिक रचना-काल हिन्दी-काव्य का छायावादी काल है। छायावादी संस्कार अज्ञेय की प्रारम्भिक रचनाओं में स्पष्टतया प्राप्त भी होते हैं। लेकिन अज्ञेय की संवेदना पर किसी छायावादी कवि का सीधा प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण संभवतः यह रहा हो कि अंग्रेजी व बंगला भाषा जानने के कारण वे सीधे उस स्रोत के प्रभाव में आ गए थे जिससे स्वयं छायावादी कवि भी प्रभावित रहे। इससे पहले अज्ञेय टेनीसन के अनुकरण में कई कविताएं अंग्रेजी में लिख चुके थे। इस कारण उनका काव्य-संस्कार तो बन ही रहा था। ऐसी स्थिति में रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं—विशेषतः 'गीतांजलि'—का प्रभाव उनके मानस पर पड़ा और इसी प्रभाव के अंतर्गत कई कविताएं उन्होंने लिखीं। रवि ठाकुर के इस प्रभाव को स्वयं अज्ञेय ने भी स्वीकार किया है।[1] अतः आश्चर्य नहीं कि इस काल की अधिकांश कविताएं स्वर शैली में छायावादी ही हैं और भाषा की दृष्टि से 'प्रसाद' के अधिक निकट पड़ती हैं। श्री विद्यानिवास मिश्र शिल्प और भाषा की दृष्टि से इन कविताओं को छायावाद के अंतर्गत मानते हुए भी कथ्य को छायावाद की भूमिका से बिल्कुल अलग मानते हैं। कथ्य एवं भाषा की विभिन्नता का विचित्र नमूना है यह![1] वास्तव में ऐसा है नहीं। मांसल प्रेम और पार्थिव सौन्दर्य के प्रति रुझान इन कविताओं में कहीं कहीं ही अभिव्यक्त हुआ—स्फुट रूप में यत्र-तत्र छायावाद में भी व्यक्त हुआ—बाकी असीम प्यास और रहस्य अन्वेषण के भाव से ये कविताएं पूर्णतः संपृक्त हैं। 'भग्नदूत' की 'असीम प्रणय की तृष्णा', 'नहीं—तेरे चरणों में', 'दृष्टि पथ से तुम जाते हो अब', 'अपना गान' आदि अधिकांश रचनाएं छायावादी भंगिमा की ही हैं और उनपर रवि ठाकुर का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'चिन्ता' काव्य में भी छायावादी स्वर प्रधान है—सतत् व शाश्वत प्रेम और कहा—यद्यपि यत्र-तत्र मांसलता के प्रति रुझान इस काव्य में प्राप्त होता है। सन् ३२ के बाद की कविताओं में, जो 'बन्दी स्वप्न' और 'हिय हारिल' उपशीर्षकों के अंतर्गत 'पूर्वा' में संकलित हैं, यथार्थ के प्रति अज्ञेय का विवेकमूलक झुकाव अधिक स्पष्ट देखा जा सकता है। छायावाद से मुक्त

---

१ आत्मनेपद पृ० २५

होने का सचेष्ट आग्रह इन कविताओ मे साफ दीखता है। 'वन्दी' यथार्थ-परक राजनैतिक पराधीनता और सामाजिक वर्जनाओ के घेरे मे वन्द तत्कालीन मानस का प्रतीक है जो मुक्ति का आग्रही भी है और 'हारिल' उसकी मुक्ति एव सर्जनात्मकता का प्रतीक वनता है।[1]

अज्ञेय पर रवि ठाकुर का प्रभाव स्थायी एव गहरा सिद्ध हुआ। रवि ठाकुर की तरह अज्ञेय की काव्य-पहुंच (Poetic Approach) भी मूलत. रागात्मक ही रही। रवि वावू की ही तरह अज्ञेय भी तथ्य व सत्य का अन्तर करते है और सत्य का महत्त्व उनके निकट भी रागात्मकता के ही कारण है।[2] लेकिन यथार्थ के प्रति रुझान होने के कारण अज्ञेय की 'सवेदना की तराश' रवि वावू से भिन्न रही। रवि ठाकुर के लिए व्यक्ति समष्टि से मिलकर ही—उसमे लीन होकर ही—सत्य हो सकता है जव कि अज्ञेय का व्यक्ति इकाई रूप मे सत्य है—समष्टिगत होकर भी उसकी वैय-क्तिकता वनी रहती है। इस प्रकार अज्ञेय व्यक्ति के साथ रागात्मक होते है और रवि ठाकुर समष्टि के साथ। या यू कहे कि रवि ठाकुर का मानव एक भाव है और अज्ञेय का मानव यथार्थ व्यक्ति। इस प्रकार काव्य-पहुंच की समानता होते हुए भी दोनो कवियो की सवेदना के विधान मे अन्तर आ जाता हे, यद्यपि रागात्मकता दोनो का मूलाधार है। यही कारण है कि रवि ठाकुर की सवेदना मूलत' समन्वयात्मक है जव कि अज्ञेय की सवे-दना की तराश मूलत' सवादात्मक है। राग-तत्त्व दोनो मे है। लेकिन 'सम-न्वय' मे विलीन हो जाने का भाव है (इसी कारण व्यष्टि समष्टि मे मिल-कर भावात्मक सत्ता हो जाता है) जव कि 'सवाद' मे सामंजस्य का पूरा भाव रहने पर भी 'निजता' को सुरक्षित रखने का आग्रह प्रवल है। (अत व्यक्ति समष्टि से जुडते हुए भी सजीव व्यक्ति वना रहता है)। इस सवादा-त्मकता' का प्रभाव अज्ञेय के अभिव्यक्ति पक्ष पर भी विशेप स्तर पर रहा वल्कि उसकी दिशा भी सवेदना के इस विशिष्ट स्वरूप ने ही निर्धारित कर दी। इसी प्रकार, यद्यपि रवि ठाकुर का यह प्रभाव शुभ रहा और इस कारण अज्ञेय हिन्दी काव्य-परम्परा को निखार भी सके, यह सवादात्मकता

---

१ प्रतीक-योजना पर चर्चा करते समय इस पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है।
२. इसपर आगे के पृष्ठो मे विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।

उनके काव्य की गाथा भी बन गई। इन प्रश्नों पर आगे अध्यायों में विचार पूरक चर्चा होगी।

यदि ठाकुर का एक और प्रभाव देखें तो कहें कि आरम्भ में ही कवि अज्ञेय में एक मानवतावादी दृष्टि का विकास हुआ जिसे वे आज भी नहीं छोड़ पाए हैं यद्यपि बाद में यह दृष्टि अधिक यथार्थवादी और युग-धर्मी होती गई। यहां प्रश्न किया जा सकता है कि रवीन्द्र एवं विवेकानन्द आदि के प्रभाव से यह दृष्टि तो छायावादी काव्य में भी स्पष्ट अभिव्यक्ति पा रही थी—तो फिर अज्ञेय उससे अलग कहां हुए ? यह वस्तुतः छिपा नहीं है। यद्यपि अपने प्रारम्भिक रचना-काल में अज्ञेय भी छायावादी भंगिमा के कवि रहे पर बाद में छायावाद से इनका अलगाव उत्तरोत्तर प्रबलतर होता गया और सन् १९४० तक आते-आते तो उनका अलगाव स्पष्ट होने लगा था। विचारों में अध्ययन-रुचि एवं के कारण (काव्याध्ययन विज्ञान में बी० एस-सी० हैं और और व्यावहारिक राजनीति में भी सक्रिय हिस्सा ले चुके हैं) अज्ञेय में यथार्थ और विवेक का आग्रह प्रबल होना स्वाभाविक ही था। यद्यपि जीवन की जो अवहेलना छायावादी काव्य में थी, वह उनकी मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ती थी। इसी कारण धीरे-धीरे उनमें छायावाद से अलग एक नये प्रकार के मानववाद के प्रति रुझान विकसित हुआ जो आगे चलकर मानवेन्द्रनाथ राय के 'बुद्धिवादी मानववाद' Radical Humanism— से प्रभावित हुआ जो छायावादी संस्कार का अमूर्त मानववाद नहीं था। छायावादी काव्य का मानव जब व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत होता है तो भी यथार्थ व्यक्ति नहीं रहता—वह मात्र भावात्मक सत्ता है और सो भी शाश्वत। इसी कारण छायावाद में व्यक्ति की कोई समस्या नहीं। वहां मानव भी चिरन्तन है और समस्या-समाधान भी चिरन्तन। व्यक्ति की समस्या तो सीमित रहती है और निजी भी अतः चिरन्तन समाधान से उसका काम चलेगा नहीं—वह भी निजी और सामयिक ही होना चाहिए—हां चिरन्तन से उसका छतीसा सबध होना आवश्यक नहा। अज्ञेय का मानववाद ऐसा ही व्यक्तिपरक मानववाद है अतः यथार्थ व्यक्ति की समस्या (कुण्ठा-वर्जना अमूर्त के प्रति संघर्ष आदि) अज्ञेय काव्य में सदैव स्थान पाती है और अज्ञेय भी उसका समाधान केवल खोजते ही नहीं रहे—उसे प्रस्तुत करने में भी सफल हुए हैं। इस प्रकार

छायावाद मे मानव एक भाव (Idea) था, जब कि अज्ञेय के लिए वह मूर्त और पार्थिव हो आया। दूसरे शब्दो मे कहे तो, छायावाद की अमूर्त सत्ता अज्ञेय के लिए मूर्त यथार्थ मे रूपान्तरित हो गई और यह अन्तर कम महत्त्व का नही है—इसी कारण सक्रमणकालीन भारतीय मानस का जो चित्रण हमे अज्ञेय-काव्य मे मिलता है वह सम्पूर्ण छायावाद मे नही। वस्तुत यह कहना अधिक ठीक होगा कि छायावाद मे समष्टिमूलक भावात्मक मानववाद अभिव्यक्ति पा रहा था जब कि अज्ञेय मे वैयक्तिकता-मूलक मानववादी दृष्टि विकसित हो रही थी।

इसी समय अज्ञेय पर दूसरे प्रभाव भी काम कर रहे थे जिनमे दो प्रमुख है। यद्यपि अज्ञेय चालू अर्थ मे मार्क्सवादी कभी नही हुए बल्कि मार्क्स की विचारधारा और उसके क्रियात्मक स्वरूप को वे कभी समर्थन नही दे पाए लेकिन मार्क्सवाद की वर्ग-चेतना ने उनपर परोक्ष प्रभाव अवश्य डाला। इसी कारण अज्ञेय मे ऐतिहासिक आधार पर स्थापित एक प्रखर वर्ग-चेतना का विकास हुआ पर इसकी अभिव्यक्ति प्रमुखत सामाजिक स्तर पर हुई—यद्यपि कही-कही आर्थिक शोषण के विरुद्ध तीव्र स्वर भी उनके काव्य मे सुनाई पडते है। इस सामाजिक चेतना के साथ ही साथ अज्ञेय मनोविश्लेपण की फ्रायडीय पद्धति से भी प्रभावित हुए और उसही के कारण जान सके कि किस प्रकार यौन कुण्ठाए व्यक्ति-मानस मे घर करके उसके व्यक्तित्व के सर्जनात्मक विकसन को अवरुद्ध करती रहती है। इस 'जानने' ने अज्ञेय को छायावादी सवेदना से पूर्णत पृथक् कर दिया। छायावाद के अमूर्त मानववाद मे मनोवैज्ञानिक विश्लेपण और यौन-वर्जनाओ को लेकर स्पप्ट एव प्रखर सामाजिक विद्रोह की सभावना नही थी। अज्ञेय का सपर्क अमूर्त मानवता से अधिक मूर्त मानव से था अत उन्होने प्रयत्नपूर्वक उसकी स्थिति को समझा और उसे अपने काव्य मे अभिव्यक्ति दी।[1] 'तार सप्तक' के अपने कवि-वक्तव्य मे उन्होने इस बात को स्पप्ट भी

---

१ अज्ञेय के अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी का नाम भी मनोविश्लेपणात्मक साहित्य के सदर्भ मे लिया जाता है। यह तुलना रुचिप्रद होगी। जोशी जी ने भी अपने उपन्यासो मे मनोविश्लेपणात्मक पद्धति का प्रयोग किया है पर उनमे और अज्ञेय मे एक स्पप्ट अन्तर है। जोशी जी दरअसल उपन्यास मे मनोविज्ञान का प्रयोग पडिताऊ ढग पर करते रहे। उनका तात्पर्य सिद्धान्त समझाने का अधिक लगता है। कभी-

किया है (उसके नये परिवर्द्धित संस्करण में पुनः उसका समर्थन भी वे करते हैं) आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है।

आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएं सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौंदर्य चेतना भी इससे आक्रांत है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का अनुशासन करती है जिससे एक दूसरे प्रकार की वर्जनाओं का पुंज खड़ा होता है और उनके साथ ही उनके प्रति विद्रोह का स्वर जागता है।"[1] इसी कारण सामाजिक वर्ग चेतना पर अज्ञेय सटीक व्यंग्य करते हैं यह भाव यौन प्रतीकों से भी अभिव्यक्त होता है

हम लोगों का एक मात्र श्रम है—सुरतिश्रम
उस अत्यंत में का एक मात्र सुख है—मैथुन-सुख[2]

और रूढ़ अभिजात सौंदर्य बोध को धक्का देने वाले बिम्बों के माध्यम से भी

मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्यधन गदहा।
निकटतम
रीढ़ बंकिम किए निश्चल किन्तु लोलुप
खड़ा वन्य बिलार—
पीछे गोयठों के गंधमय अंबार।[3]

कभी तो लगता है कि जोशी जी का विश्लेषण पात्रों के मानस का उद्घाटित करने के लिए नहीं है। वरन् उन्होंने फ्रायड धारा के उदाहरण में पात्र गढ़े हैं। अज्ञेय के साथ ऐसा नहीं है। उनका मनोविश्लेषण समकालीन मानस का समझने में सहायता करता है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। अज्ञेय के यौन प्रतीक कुण्ठा-ग्रस्त मानव की मनोदशा का ही संकेत नहीं करते वे काव्य में सामाजिक विद्रोह का रूप धारण करते हैं। डी० एच० लारेंस व अज्ञेय में यही समानता नजर आती है।

1 तार सप्तक पृ० २७८
2 वही पृ० २६९
3 पूर्वा पृ० १४१

यौन-प्रतीकार्थ रखने वाले उपमानों से भी यत्र-तत्र अज्ञेय-काव्य मे इस कुण्ठा की अभिव्यक्ति हुई है :

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कंपित उरोजो पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील-वक्ष

× × ×

वासना के पक-सी फैली हुई थी
धारियित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नगी
औ' समर्पित।

मासलता के लिए ऐसा तीव्र आग्रह निश्चय ही छायावादी सवेदना से विलगाव की ओर सकेत करता है ·

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियो मे उमड आयी है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि ?[1]

वैसे एकाध जगह 'चिन्ता' मे भी यौन-भावनाए आक्रामक स्वर मे व्यक्त हुई थी :

तोड दूँगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान
तुम हँसो कह दो कि अव उत्सर्ग वर्जित है
छोड दूँ कैसे भला मैं जो अभीप्सित है
कोषवत् सिमटी रहे यह चाहती नारी
खोल देने, लूटने का पुरुष अधिकारी।

लेकिन उनकी 'जनाह्वान' कविता मे सामाजिक व यौन-वर्जनाओ के प्रति विद्रोह का स्वर प्रखरतम होकर उभरा है। 'जनाह्वान' का आततायी वस्तुत वह वर्ग है जो सामाजिक एव यौन-वर्जनाओ का जनक रहा है और जिसे पुकारकर कवि कहता है .

---

१ पूर्वा, पृ० १३२-३३

ठहर ठहर आततायी! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा!

कवि इस चेतना की ऐतिहासिक पीठिका से भी परिचित है—

कौन हूँ मैं?
तेरा दीन, दुखी पददलित पराजित,
आज जो कि क्रुद्ध सप से अतीत को जगा
मैं से हम हो गया

और इसी कविता की य पक्तियाँ अनय के यौन विद्रोह की सामाजिक अभिव्यक्ति है

और मेरे आगे है अनन्त
आदिहीन शेषहीन पथ वह
जिस पर
एक दृढ पर का ही स्थान है—
और वह दढ पैर मेरा है
गुरु स्थिर स्थाणु-सा गडा हुआ
तेरी प्राण पीठिका प लिंग सा खडा हुआ![1]

इसके साथ ही साथ एक और प्रवत्ति अनेय-काव्य म दृष्टिगत हो रही थी जो इस प्रवत्ति की विरोधी तो नही थी लेकिन अज्ञय अभी तक इन दाना का समन्वय नही कर पाए थ। छायावाद और रवि ठाकुर के प्रभाव के कारण प्रकृति सौदय के प्रति अनय प्रारम्भ स ही एक स्थान अनुभव करते थे। लेकिन उनका यह प्रकृति प्रेम किसी सूक्ष्म तत्त्व के प्रति लगाव क कारण नहीं वरन प्रकृति के पार्थिव सौन्दर्य से मिलने वाले आनन्द के कारण था। इत्यलम् स 'हरी घास पर क्षण भर तक आते आते अनेय इन दोनो प्रवत्तियों म समन्वय बिठाने म सफल हो गए थे। वजनाओ से कुठित व वणिक सस्कृति स ग्रसित नागर सभ्यता के प्रति प्रारम्भ स ही अनेय म कोई आकषण नही था—व उसका प्रत्याख्यान ही करत आए थ। सहज जीवन के प्रति इस आग्रह का डी० एच० लारेंस न भी प्रभावित किया और तब यह स्वाभाविक ही था कि अनय बन्द शहरी

---

1 पूर्वा प० १३१

वातावरण की अपेक्षा प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण की ओर उन्मुख होते । पर यह उन्मुखता पलायन नही थी क्योकि वे प्रकृति के असीम मे अपने को समर्पित नही कर रहे थे—और फिर यह प्रकृति भी शहर का उद्यान ही था । बढती हुई कुण्ठा और घुटन के बीच क्षणभर के लिए उन्मुक्त रागात्मकता का आनन्द एक विवेकसम्मत माग थी । इस प्रकार अज्ञेय-काव्य मे 'क्षण' का आग्रह पश्चिमी अस्तित्ववाद का प्रभाव नही था यद्यपि वाद मे पश्चिम और पूर्व दोनो ही ने इसे सस्कार दिया । नगर-सभ्यता के प्रति वितृष्णा की भावना 'हरी घास पर क्षण भर' मे खुल कर अभिव्यक्त हुई । इस सग्रह मे अज्ञेय की सवेदना ने एक निश्चित स्वरूप ही ग्रहण नही किया—हिन्दी को भी नयी काव्य-भूमि से परिचित करवाया । सवेदना व शिल्प व भाषा— सभी दृष्टियो से इस सग्रग्रह का परवर्ती हिन्दी-काव्य पर स्थायी प्रभाव पडा । यान्त्रिक सभ्यता और नगर-वोध की जितनी अभिव्यक्ति परवर्ती हिन्दी काव्य मे हुई उसका प्रारम्भ इस सग्रह मे देखा जा सकता है । इस दृष्टि से अज्ञेय को यदि नयी कविता का पुरोधा कहा जाए तो अनुचित नही होगा । हमारा देश' कविता उस शहरी सभ्यता पर एक व्यग्य है जिसके कारण सास्कृतिक विघटन होता जा रहा है

इन्ही तृण-फूस छप्पर से
ढँके ढुलमुल गँवारू
झोपडो मे ही हमारा देश
वसता है ।

इन्हीके ढोल-मादल-वाँसुरी के
उमगते सुर मे
हमारी साधना का रस
वरसता है ।

इन्हीके मर्म को अनजान
शहरो की ढंकी लोलुप
विपैली वासना का साँप
डंसता है ।

इन्हीमे लहरती अल्हड
अयानी सस्कृति की दुर्दशा पर

सभ्यता का भूत
हँसता है।[1]

शहरो की विषली वासना का सांप,' सभ्यता का भूत आदि शब्द इस वात का प्रमाण देते ह कि वतमान नागर सभ्यता के प्रति अनेय का भया रख रहा है। यह रख अनाधुनिक या पलायनवादी नही कहा जा सकता क्योकि इस नगर सभ्यता के प्रति आज के अधिकाश दाशनिका एव विचारका का यही रख रहा है। जहा स्पेंगलर जस दार्शनिक इसस पीडित हुए वहा ईलियट और लारेंस जस कवि भी इसके प्रति वितष्णा ही रख सके—चाह उनके रास्त अलग-अलग रह हा। इसीलिए अनेय 'हरी घास पर क्षण भर' शीषक कविता म 'नगरी की वचन बुदवती गड्ड मड्ड अकुलाहट' के क्षण भर भुला सकना चाहत हैं लेकिन इस पलायन नही मानत। वे प्रेमिका को सहज रूप से निरखना चाहते है और इसी सहजता के कारण निरखने को दवी वासना की विकृति नही कहते। इसी कारण अनेय नही चाहत कि नगरी के वे नागरिक उन्ह प्रेमी कह

जिनकी भाषा म
अतिशय चिकनाई है साबुन की
किंतु नही है
करुणा।[2]

नगर-सभ्यता के प्रति अनेय की यह वितष्णा दिनो दिन अधिक तीखी होती गई है। यह कविता इसी से उपजा एक तीखा व्यग्य है

सांप!
तुम सभ्य तो हुए नही
नगर मे बसना
भी तुम्हे नही आया।
एक बात पूछू—(उत्तर दोगे?)
तब कसे सीखा डँसना—
विष कहाँ पाया?[3]

---

१ पूर्वा पृ २२७
२ वही पृ २५
इन्द्र धनु रौंदे हुए य पृ० २६

नगर-सभ्यता पर इतना सीधा और तेज व्यग्य परवर्ती कविताओ मे भी नही हो पाया है।

'तार सप्तक' से 'हरी घास पर क्षण भर' तक मे अज्ञेय के व्यक्तिवाद का उत्स छुपा है। वर्ग-भावना और यौन-वर्जनाओ के प्रति विद्रोह करने वाले व्यक्ति की यान्त्रिकता या सर्वसत्तावादी राज्य को क्या एक नयी प्रकार की वर्जना का जुआ कधे पर रखने जैसा नही है? मानव के विवेक मे आस्था रखने वाला कवि उस विवेक के प्रयोग का अधिकार भला क्यो छोडना चाहेगा? इस प्रकार का समर्पण नयी वर्जनाओ एव कुण्ठाओ को ही जन्म देगा जब कि कवि अज्ञेय की काव्य-साधना कुण्ठारहित इकाई की सिद्धि के लिए रही है। यही कारण है कि अज्ञेय का कवि प्रवाह मे वहने को अस्वीकार कर देता है क्योकि 'वहता रेत होना है,' और रेत वनना 'सलिल को गदला करना,' 'अनुपयोगी' वनाना है। लेकिन फिर भी हम अज्ञेय को अहवादी नही कह सकते क्योकि वे समर्पित तो है चाहे वह 'स्थिर समर्पण' ही क्यो न हो। कालान्तर मे सवेदना के निखरने के साथ-साथ अज्ञेय का व्यक्तिवाद अधिक परिष्कृत एव समाजोन्मुख होता गया है। 'हरी घास पर क्षण भर' से आज तक की अज्ञेय की काव्य-यात्रा एक 'कुण्ठारहित इकाई' की यात्रा है जो अहवादी नही (क्योकि अहवाद भी कुण्ठा की ही उपज है) वरन् 'ममेतर' को समर्पित है। अज्ञेय के इस विकास को समझना रुचिकर होगा।

वास्तव मे 'हरी घास पर क्षण भर' मे जो व्यक्तित्व उभरता है उसी-का निरन्तर विकास 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तक होता रहा है। कवि के शब्दो मे इसे हम 'व्यक्तित्व की खोज' कह सकते है। यह व्यक्तित्व मूलत एक मानववादी का ही है जो मनुष्य की अद्वितीयता पर विश्वास रखता हे, अत उसे यत्र संस्कृति या मनुष्य की अद्वितीयता को मिटाने वाली किसी व्यवस्था का अग नही मानता क्योकि मनुष्य की अद्वितीयता की धारणा को स्वीकृति देकर वह उसके स्वतत्र विवेक को स्वीकार कर रहा होता है। लेकिन यह स्वतत्र व्यक्तित्व न तो समाज-विरोधी है और न ही समाज निरपेक्ष (Ascocial)। वह समाजोन्मुख है। यहा अज्ञेय मानवेन्द्रनाथ राय के 'बुद्धिवादी मानववाद' (Radicaa Humanism) से प्रभावित दीखते है जो व्यक्ति के स्वतत्र विवेक के प्रयोग के अधिकार

को स्वीकृति प्रदान करता है तथा मार्क्सवादी समूहवाद के विपरीत व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता के विकास को अनिवार्य मानता है। सर्जनात्मक व्यक्तित्व की अज्ञेय की धारणा इसीसे मिलती जुलती है। यह स्वतन्त्र विकास समाज विरोधी नही है—हो ही नहीं सकता। 'पर' से सहज भाव से न मिल सकना भी एक प्रकार की कुण्ठा ही है अत व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के पश्चात् उसके असामाजिक या पर विरोधी होने का प्रश्न ही नही उठता। और फिर यह भी उचित ही लगता है कि व्यक्ति पूर्ण आन्तरिक विकास के पश्चात् ही अपने को कही समर्पित करे क्योकि उससे पहले किया गया समर्पण उसके विवेक के स्वतन्त्र निर्णय के आधार पर नही होगा। और यह भी कि अधकचरे व्यक्तित्व समाज को और अधिक कुण्ठित ही बनाएगे क्योकि जो स्वय उनके भीतर नही है वह उनके द्वारा अन्य को कैसे दिया जा सकेगा? इन्ही दिनो लिखे गए अपने उपन्यास नदी के द्वीप मे भुवन द्वारा गौरा को लिखे गए पत्र मे लेखक की तत्सम्बन्धी मान्यता स्पष्ट होती है व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास जब तक पूरा नही हो जाता, तब तक उसे ईकाई से बाहर प्रसृत करने का प्रश्न ही नही उठता, वह प्रश्न तभी उठना चाहिए जब उसके बिना विकास के मार्ग न हो।"[1] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय की दृष्टि मे स्वतन्त्र विकास के पश्चात् की स्थिति इकाई से बाहर प्रसृत होना ही है।

इसी कारण यह आकस्मिक नही लगता कि 'नदी के द्वीप' की भांति अपने को अलग रखने वाला कवि भी अपने को सहज भाव से पंक्तिबद्ध कर देता है

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

यह जन है गाता गीत जिन्हे फिर और कौन गाएगा?
पनडुब्बा ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लाएगा?

---

1 नदी के द्वीप पृ ७४

यह समिधा . ऐसी आग हठीला विरला सुलगाएगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वय विसर्जित

....

....

यह प्रकृत, स्वयभू, ब्रह्म, अयुत
इसको भी शक्ति को दे दो।

....

....

यह वह विश्वास, नही जो अपनी लघुता मे भी काँपा,
वह पीडा, जिसकी गहराई को स्वय उसी ने नापा,
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कडुवे नभ में
यह सदा द्रवित, चिर जागरुक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब बाहु, यह चिर-अखड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो।[1]

यह कविता अज्ञेय के व्यक्तिवाद—अधिक विशिष्ट होकर कहे तो वैय-क्तिकतामूलक मानववाद को समझने की कुजी है और यह भी कि यह धारणा किसी पश्चिमी दर्शन से प्रभावित न होकर मूलत देशज विचार-पद्धति से ही सस्कारित है। पुराणो में वर्णित 'तप' प्रकारान्तर से स्वतन्त्र आन्तरिक विकास की ही प्रक्रिया है जिसके पश्चात् तपस्वी का जीवन 'ममेतर' को समर्पित रहता है। स्वय कुण्ठामुक्त हुए विना दूसरो को कुण्ठा-रहित करना कहाँ सम्भव है ? वस्तुत' अज्ञेय पर आत्मकेन्द्रित एव अह-वादी होने का आरोप कुण्ठारहित व्यक्तित्व के प्रति उनके आग्रह को गलत समझने का ही परिणाम है। अन्यथा जो कवि स्फटिक के मुकुर मे प्रति-विम्वित अपने चेहरे मे देखता है ·

मेरे चेहरे मे वागडियो के झोपडो से झाँकता है एकलव्य,
द्रोणाचार्य अभिसन्धि करते है
मुनियोकी व्याजहीन आँखो मे

---

१ वावरा अहेरी, पृ० ६२-६३

पोखर में राजहंस माला नीर-क्षीर करती है
लाख लाख मछलियाँ पेटियाँ उलटकर दम तोड़ देती हैं
मेरे चेहरे में भोले बालकों का भवितव्य का विश्वास है।[1]

तथा इतिहास चेहरे, परम्परा और बालकों के भोले विश्वास के प्रति स्वयं को जो उत्तरदायी समझता है उसे आत्मलीन किस आधार पर कहा जा सकता है? हाँ यदि लोकमुखता और सामाजिकता का अर्थ गहरे दाँव वाली चौपट की गोटें होना और स्वतन्त्र विवेक के प्रयोग के अधिकार को तिलांजलि देकर मानसिक स्तर पर जड़वत् हो जाना ही है तो क्या इस किस्म की लोकमुखता (?) किसी को भी ग्राह्य हो सकती है? फिर वहाँ लोकमुखता भी क्या होगी? जड़ता में भला उन्मुखता कहाँ?

इन्हीं कारणों से अज्ञेय को वही विचारधाराएँ आकर्षित कर सकीं जो न केवल मानवीय अस्तित्व को केन्द्र में रखकर चलती हैं वरन उसके विवेक के प्रयोग का अधिकार—उसकी निजता—सुरक्षित रखती हैं। इसीलिए एक ओर वे अस्तित्ववादी विचारसरणी से प्रभावित हुए और दूसरी ओर बौद्ध एवं औपनिषदिक चिन्तन ने भी उन्हें प्रभावित किया। इसी अर्से में हुई विदेश-यात्राओं ने भी उनकी दृष्टि एवं अनुभूति को एक खुलापन व गहराई दी। वस्तुतः अरी ओ करुणा प्रभामय में अज्ञेय की संवेदना का नया संस्कार हो रहा था जो आगे जाकर आँगन के पार द्वार और कितनी नावों में कितनी बार में पूर्ण रूप से सामने आया।

यह सुखद है कि अज्ञेय को अस्तित्ववाद के उस पक्ष ने प्रभावित नहीं किया जिसने हिन्दी के अन्य अधकचरे लोगों पर तीखा प्रभाव डाला और जो निश्चय ही भारतीय मनीषा एवं परिस्थिति के अनुकूल नहीं है। सार्त्र का मतली का दर्शन और न कुछ की धारणा उन्हें आकृष्ट नहीं कर सकी। हिन्दी के जो परिश्रम विरोधी सहजवादी आलोचक मुझको भी अस्तित्ववादी और सार्त्र का अनुयायी कह देते हैं उनके सम्मुख तो यह निवेदन करना भी निष्प्रयोजन है कि सार्त्र का साहित्यिक अस्तित्ववाद मेरे लिए विशेष आकर्षक कभी नहीं रहा है यद्यपि मैंने पढ़ना और समझना उसे भी चाहा जैसे कि अन्य साहित्यिक सिद्धान्तों को समझना चाहता रहा

---

1 इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० ८

हूँ। लेकिन उन दो प्रवृत्तियो में, जिन्हे 'ईसाई अस्तित्ववाद' और 'वैज्ञानिक अस्तित्ववाद' कहा जाता है, मेरी विशेष रुचि रही क्योकि मै समझता था और अब भी मानता हूँ कि यूरोप की वर्तमान मन स्थिति और उसके सकट को समझने के लिए इन प्रवृत्तियो का अध्ययन आवश्यक है।"[1] इस प्रकार अज्ञेय की रुचि आस्थावादी अस्तित्ववाद मे अधिक रही तथा गैब्रील मार्सेल और विशेषत कार्ल यास्पर्स की 'स्पष्ट एव सतर्क विचारपद्धति' से वे प्रभावित हुए। अपनी यूरोप-यात्रा के दौरान इस सुप्रसिद्ध अस्तित्व-वादी चिन्तक से उन्होने मुलाकात भी की थी। लेकिन यास्पर्स के अति-रिक्त कीर्केगार्द एव बूबर के चिन्तन का प्रभाव भी उन्होने ग्रहण किया है। स्वय यास्पर्स भी मूलत कीर्केगार्द की ही मान्यताओ पर आधारित है। इन चिन्तको से अज्ञेय के प्रभावित होने का एक कारण यह भी लगता है कि ये सभी 'ईसाई अस्तित्ववादी' है और अज्ञेय पर प्रारम्भ से ही ईसा के दिव्य जीवन और ईसाइयत के मूल सिद्धान्तो का प्रभाव रहा है।[2] ईसा का त्रास स्वय कष्ट सहकर दूसरो को मुक्ति देने का प्रतीक है और यह भाव अज्ञेय के काव्य मे भी मिलता है :

दुख सबको माँजता है
स्वय सबको मुक्ति देना वह न जाने
किन्तु जिनको माँजता है
उन्हे यह सीख देता है कि
सबको उससे मुक्त रखे ?[3]

अत सबको मुक्ति देने की सीख देने वाले दुख से मँजने वाले व्यक्तित्व को वही दर्शन प्रभावित कर सकता है जो 'ममेतर' के साथ सगतिपरक सबधो की प्रेरणा देता हो। सार्त्र का दर्शन, जो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच सघर्ष की अनिवार्यता पर बल देता है और 'दूसरे लोग नरक है' को प्रचार देता है, अज्ञेय की मन स्थिति को निश्चय ही स्वीकार्य न होता। इसलिए यास्पर्स के 'प्रेम के क्षण' पर तीव्र आग्रह अज्ञेय के सस्कारो के अनुकूल था। 'क्षण'

---

१ एक बूँद सहसा उछली, पृ० ६६-७०
२ 'कण्टेम्परेरी इडियन लिट्रेचर' मे हिन्दी साहित्य पर स० ही० वा० का निबन्ध।
३ पूर्वा, पृ० २४२-४३

का यह आग्रह क्षणिकता का नहीं अनुभूति की प्राथमिकता' का आग्रह है, प्रेम की अनुभूति का जिजीविषा की अनुभूति का आग्रह है। और जसा कि स्वय अज्ञेय कहते हैं अनुभूति को अनुभावक स अलग नहीं किया जा सकता—अनुभूति अद्वितीय है क्योंकि कोई दूसरे की अनुभूति नहीं भाग सकता [1] अत यह भी स्वाभाविक था कि व वयक्तिक स्तर पर ही जीवन के अथ की उपलब्धि को स्वीकार करत। इस आग्रह को भारतीय विचार पद्धति एव जन बौद्धवाद ने भी सस्कारित किया। भारतीय वेदान्त के अनुसार सत्य की प्राप्ति प्रत्यक व्यक्ति को निजी स्तर पर ही हो सकती है और उसका सवश्रेष्ठ एव तकसगत माध्यम अनुभूति ही है 'अनुभवावसानत्वात् ब्रह्मानस्य (शकराचाय)। इसी प्रकार जन (ध्यान) बौद्ध वाद में यद्यपि गुरु ध्यान की प्रक्रिया म सहायता करता है पर अन्ततोगत्वा प्रत्यक साधक को जो उत्तर प्राप्त होता है वह उसका अपना ही—निजी एव विशिष्ट होता है। इसीलिए अज्ञय यह मानते हैं कि अपने माध्यम से ही हम किसी अथ तक पहुँच सकते है

> अथ हमारा
> जितना है सागर म नहीं
> हमारी मछली में ह
> सभी दिशा में सागर जिसका घर रहा है
> हम उसे नहा
> वह हमको टेर रहा है।[2]

यहा वयक्तिक अनुभूति पर अपन तीव्र आग्रह के कारण उनका सत्य व तथ्य' का अन्तर भी कीर्केगाद स मिलता जुलता है। कीर्केगाद का विषयीगत सत्य (Subjective Truth) और अज्ञय का राग सत्य प्रक्रियात्मक स्तर पर एक ही है क्योंकि दोनो ही अनुभूति प्रसूत हैं। इसी कारण अज्ञेय मानते हैं कि हर व्यक्ति एक अद्वितीय इकाई है और हर कोई जीवन का अन्तिम दशन अपने जीवन में पाता है किसी की सीख में नही।'[3] अत

---

१ आत्मनेपद १६६
२ अरी ओ करुणा प्रभामय पृ० १६८
३ नदी के द्वीप पृ० ३३०

सत्य और तथ्य में किया गया उनका भेद भी स्वाभाविक लगता है और विशेषत कलाकार का सत्य तो अनुभूत्यात्मक ही होता है, तथ्यात्मक नही। उनकी एक कविता 'कितनी नावो मे कितनी बार' के केन्द्र मे यही भाव है क्योकि 'जगमग जहाज' जिन 'पराये देशो की बेदर्द हवाओ मे' उन्हे खीच-कर ले जाते है वहाँ.

नगे अँधेरो को
और भी उघडता रहता है
एक नगा, तीखा, निर्मम प्रकाश—
जिसमें कोई प्रभामडल नही बनते
केवल चौंधियाते है तथ्य, तथ्य—तथ्य —
सत्य नही, अन्तहीन सच्चाइयाँ···

और वे 'खिन्न, विकल, सत्रस्त' हो जाते हे और उन्हे इधर लौटना ही पडता है लेकिन जब वे सत्य की ओर जाते है तो उन्हे यह विकलता नही रहती।

कितनी दूरियो से कितनी बार
कितनी डगमग नावो मे बैठकर
मै तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी-सी ज्योति !
कभी कुहासे मे तुम्हे न देखता भी
पर कुहासे की ही छोटी-सी रुपहली झलमल मे
पहचानता हुआ तुम्हारा ही प्रभामण्डल।
कितनी बार मैं,
धीर, आश्वस्त, अक्लान्त,
ओ मेरे अनबुझे सत्य ! कितनी बार ··[1]

अज्ञेय का यह सत्य 'मम' और 'ममेतर' का रागात्मक सम्बन्ध है, क्योकि इस रागात्मकता के बिना 'जो मेरा है वही ममेतर है' नही कहा जा सकता। लेकिन यह स्पष्ट निरूपण करना सरल नही है कि अज्ञेय-काव्य मे यह 'ममेतर' कौन है। वस्तुत. 'ममेतर' के दो रूप अज्ञेय-काव्य मे मिलते

---

१ कितनी नावो मे कितनी बार, पृ० ८

हैं और यह आश्चर्यजनक है कि 'आँगन के पार द्वार' और 'कितनी नावों में कितनी बार' में क्रमश य अलग-अलग विकसित हुए हैं। बूबर के 'मैं तू (I Thou) का तू' आध्यात्मिक भी है और मानवीय भी। ऐसा ही अज्ञेय में है। यदि गहरे स्तर पर देखा जाए तो इन दोनों रूपों के मध्य कोई विरोध नहीं दीखता। मनुष्येतर आध्यात्मिक सत्ता के साथ जुड़ने वाली मनीषा की आस्था मानव में समाप्त हो जाए—ऐसा तो नहीं होता। इसके विपरीत होने की सम्भावना तो फिर भी बनी ही रहती है। अज्ञेय के साथ भी यही घटित हुआ है।

वास्तव में 'अरी ओ करुणा प्रभामय' के कवि की आध्यात्मिक 'आँगन के पार द्वार' से होते हुए 'कितनी नावों में कितनी बार' की यात्रा उसकी मानववादी विचारधारा को परिष्कृत एवं परिपक्व ही करती है। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' का ममेतर निश्चितरूपेण मनुष्य ही है। पूरे संग्रह में कवि कहीं आत्मान्वेषण की मुद्रा में है, कहीं सामाजिक व्यंग्य (कहीं कहीं प्रकृति चित्रण भी है) तो यहीं वह जिजीविषा को अभिव्यक्ति दे रहा है :

> हम निहारते रूप
> काँच के पीछे
> हाँप रही है मछली
>
> रूप तृषा भी
> (और काँच के पीछे)
> है जिजीविषा।[1]

और इस प्रकार अज्ञेय-काव्य का केन्द्र अभी तक मानव जीवन ही है। 'आँगन के पार द्वार' में भी 'मछली की मरोड़ी हुई देह वल्ली' में जिजीविषा के दर्शन अज्ञेय करते हैं। लेकिन इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ एक आध्यात्मिक संवेदना से संपृक्त हैं जिसकी पृष्ठभूमि में औपनिषदिक बौद्ध एवं ईसाई चिन्तन है। बौद्ध धर्म भी करुणा भावना और शान्ति का दूत है व ईसाई चिन्तन भी इन्हीं धारणाओं पर आधारित है। यशपक्ष को

---

1 अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ८२

'प्यार की धारणा' (Conception of love) का मिलाप सहज ही इस करुणा-भावना के साथ हो गया। अत जब चैतनिक स्तर पर अज्ञेय को औपनिषदिक एव बौद्ध शून्यवादी विचार-पद्धतियो ने प्रभावित किया तो उसमे भी करुणा का समावेश हो गया। इसी कारण अज्ञेय-काव्य मे जिस 'सूने विराट' की सृष्टि हुई है उसमे सार्त्र के 'न कुछ' का भय व छटपटाहट नही है—यह 'करुणामय विराट्' पूर्व की निजी विशेषता है जिसमे यास्पर्य का Transcendent भी घुल-मिल जाता है। इस आतक के न होने का कारण अज्ञेय की विशिष्ट भारतीय काल-धारणा है जिसके अनुसार सभी काल समवर्ती है और अनुभूति के स्वभावत काल-निरपेक्ष होने के कारण उसके माध्यम से अनस्तित्व से परे हुआ जा सकता है। इसी कारण अज्ञेय कहते है "अनस्तित्व का अर्थ क्या है यदि सभी काल समवर्ती है ? भूत और भविष्यत् भी यदि साथ वर्तमान है तो होना और न होना भी समवर्ती है ! फिर डर क्यो ?—मै इस डर को नही जानता।··· किसी भविष्यत् जीवन मे मेरा विश्वास नही है ! लेकिन उससे इस जीवन के बाद जो 'न कुछ' की स्थिति सिद्ध होती है उसका मुझे डर भी नही है। आशा मुझमे नही है, लेकिन उसका आतक भी मुझमे नही हे।"[१]

यहा यह भी ध्यातव्य है कि 'आँगन के पार द्वार' की अधिकाश कविताएँ जिस उपशीर्षक 'चक्रान्त शिला' के अन्तर्गत सकलित है वह फ्रास के ईसाई वेनेडिक्टी सप्रदाय के मठ 'पिएर-क्वि-वीर' से प्रेरित है। स्वय अज्ञेय इस सम्बन्ध मे लिखते हे "पिएर-क्वि-वीर, वह पत्थर जो घूमता है। चक्रमित शिला। चक्रान्त शिला। चक्रान्त जो सक्रमण करके फिर लौट-लौटकर आता है, वह काल के अतिरिक्त क्या है ?" वे इसका साम्य बुद्ध के धर्म-चक्र से भी विठाते है "·· इसीलिए बुद्ध ने धर्म के शाश्वत भाव और चक्रमण के काल-सापेक्ष्य भाव को एक करके धर्म-चक्र की उद्भावना की थी—जो घूमता भी है और स्थिर भी हे·· यहाँ घूमती हुई शिला पर सनातन श्रद्धा की प्रतिमा है—रूपक साग हे और प्रतीक अभिप्राय भरा ·सिहत्रयी के ऊपर धर्म-चक्र की प्रतिष्ठा की गई, तो उसका भी प्रतीकत्व सम्पूर्ण सार्थक था—एहिक सत्ता को धर्म-सिद्धान्त के

१ एक बूंद सहसा उछली, पृ० ८२

पद-तल म ही आश्रय दिया गया था।   इस प्रकार मठ का नाम जा
वास्तव में केवल एक स्थान का नाम है एक प्रतीकाय ग्रहण करके मरे
सम्मुख आता है और प्रतीक की सत्ता निरंतर नये-नय विम्व मूत करती
रहती है   कुछ लिखता हूँ तो उसम उनका स्वर बोलने लगता है ''[1]
इस विवरण स यह भी सकेत होता है कि चक्रांत शिला उपशीपक की
अधिकाश कविताएँ सभवत इसी अवधि म लिखी गइ। अनेय कुछ
समय इस मठ म रहे भी।

इस प्रकार हम देखते है कि आँगन के पार द्वार म अनेय की सवेदना
एक गहरा आध्यात्मिक सस्कार ग्रहण करती है और उस मौन ही म
सभी अर्थों का खोजती और समाहित करती है जो उपनिषद शून्यवाद,
जन बौद्धवाद यास्पर्स के अस्तित्ववाद तथा बेनेडिक्टी ईसाइयत की एक
सी थाती है

> रूपा म एक अरूप सदा खिलता है
> गोचर म एक अगोचर अप्रमय
> अनुभव म एक अतीन्द्रिय
> पुरुषा के हर वभव म ओझल
> अपौरुषय मिलता है।
>
> मैं एक शिखिर का प्रहरी भोर जगा
> अपन को मौन नदी के खडा किनार पाता हूँ
> मैं मौन-मुखर सब छन्दा म
> उस एक अनिवच छन्द-मुक्त को
> गाता हूँ।[2]

कवि मात्र उस अरूप छन्द मुक्त का गाना ही नहा— काल घास की सी
रात म गने भी मिलता है और अन्तत बीज-मन्त्र जान लना है

> धुध ढका
> कितनी गहरी वापिका तुम्हारी
> कितनी लघु अजली हमारी।

---

१ एक बूँद सहसा उछली पृ० १०३
२ आँगन के पार द्वार, पृ ३१

× × ×

किन्तु नही क्या यही धुध है सदावर्त
जिसमे नीरन्ध्र तुम्हारी करुणा
बँटती रहती है दिन-याम ?
कभी झाँक जाने वाली छाया ही
अन्तिम भाषा सम्भव नाम ?
करुणा-धाम !
बीज-मन्त्र यह, सार-सूत्र यह, गहराई का एक यही परिणाम,
हमारा यही प्रणाम ![1]

इस प्रकार अज्ञेय की ये कविताएँ हिन्दी मे एक नये प्रकार के अध्यात्म-बोध को अभिव्यक्त करती है जिसे किसी विशिष्ट दार्शनिक पद्धति मे बद्ध नही किया जा सकता लेकिन जो अभारतीय भी नही है। मानवीय अस्तित्व को केन्द्र मे रखते हुए भी अज्ञेय जिस आध्यात्मिक स्वर को मुखर कर सके है—वह कम समर्थ कलाकार का काम नही है। यहा आध्यात्मिक सवेदना माननीय अस्तित्व को ही गरिमा प्रदान करती है। ऐसी मौलिक एवं सघन आध्यात्मिक अनुभूति की कविताए अज्ञेय को सम्पूर्ण काव्य-जगत् मे एक विशिष्ट स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है

न कुछ मे से वृत्त यह निकला कि जो फिर
शून्य मे जा विलय होगा।
किन्तु वह जिस शून्य को बाँधे हुए है—
उसमे एक रूपातीत ठडी ज्योति है।

तब फिर शून्य कैसे है—कहाँ है ?
मुझे फिर आतक किसका है ?

शून्य को भजता हुआ भी मैं
पराजय को वरजता हूँ।
चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा में निमजती है :

---

1 आँगन के पार द्वार, पृ० ५०

मैं स्वय
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूँ ।[1]

लेकिन औपनिषदिक गरिमा एव बौद्ध ईसाई करुणा से सपृक्त अज्ञेय का यह अध्यात्म बोध पार्थिव एव बाह्य सत्ता के नकार पर आधारित नहीं है। बाह्य सत्ता का अस्तित्व उसके लिए भ्रम नहीं यथार्थ है। वस्तुत अज्ञेय का यह भाव यास्पस एव बूबर से प्रेरित है। यास्पस भी Being itself और व्यक्ति के बीच सहज सम्बन्ध की बात करता है क्योंकि उसीके माध्यम से व्यक्ति उस Transcendent की अनुभूति कर सकता है जो अज्ञेय काव्य म महाशून्य व महामौन का स्वरूप है और यास्पस भी यह मानता है कि इस अनुभूति को तर्कमूलक भाषा म अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यही स्थिति अज्ञेय के मौन के साथ है। इसी प्रकार बूबर के विचारानुसार भी मैं का आध्यात्मिक तू के साथ सम्बन्ध भाषा की पकड के बाहर की अनुभूति है। बूबर का मैं भी मात्र आध्यात्मिक तू के साथ ही नहीं मानवीय तू और बाह्य वास्तविकता के साथ भी सहज सम्बन्ध स्थापित करता है। यही कारण है कि अज्ञेय काव्य म पार्थिव सत्ता क अस्वीकार का भाव कहीं नहीं जागता वरन् आँगन क पार द्वार की भीतर जागा दाता म ता बाह्य सत्ता क माध्यम स ही कवि के भीतर का दाता जाग आया है। चक्रान्त शिला की कविताएँ बाह्य सत्ता क उपकरणा— वन वक्ष साता अधकार की सिरकी चाट देवदारु हिम चोटिया पत्ता का ममर पछी की तीखी कूक आदि—क माध्यम से ही आध्यात्मिक अनुभूति की प्रक्रिया का अभि यक्त करती है। कविता असाध्य वीणा म भी वीणा —बाह्य सत्ता—का रागात्मक सम पण करने पर ही प्रियवद—व्यक्ति—उस स्वयभू सगीत को—सत्य को —अवतरित कर पाता है जिसम सभी अपना विशिष्ट दाय प्राप्त करत हैं

डूब गए सब एक साथ
सब अलग अलग एकाकी पार तिर।[2]

---

१ आँगन के पार द्वार पृ० ५८
२ वही पृ ८४

अत स्वाभाविक ही है कि अज्ञेय-काव्य मे 'भीतर का देवता' 'द्वार के प्रतिहारी' को 'बार-बार पा-लागन' करता है क्योकि बाह्य वास्तविकता ही वह 'द्वार का प्रतिहारी' है जिसमे देवता स्वय ही अवस्थित है क्योकि उसीके माध्यम से उनका देवत्व है.

आँगन के पार
द्वार खुले
द्वार के पार आँगन।
भवन के ओर-छोर
सभी मिले
उन्ही मे कही खो गया भवन।

कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने,
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पा-लागन।[1]

इस प्रकार अज्ञेय का यह अध्यात्म-बोध मनुष्य को बाह्य सत्ता के साथ जोडता ही है—उससे काटता नही। बल्कि इससे अज्ञेय की मानव मे आस्था को एक नया सस्कार मिलता है। इस कारण 'ममेतर' के साथ अज्ञेय का सम्बन्ध महज 'भावात्मक' नही रहता—वह इस गहरी दार्शनिक पृष्ठभूमि और सास्कृतिक बोध से सपृक्त होता है। अत यह आकस्मिक नही है कि 'कितनी नावो मे कितनी बार' सग्रह मे कवि अज्ञेय की सवेदना एक नये सस्कारित रूप मे मानवीय यथार्थ से जुडती है और एक बार फिर कवि 'अदेखे अरूप' को प्यार नही देता—देता है अपने 'राग-सत्य' को जो उसका भाई है

तुम्हे नही तो किसे और
मै दूँ अपने को
. . ..
....

1 आँगन के पार द्वार, पृ० ७१

तुम, जो एक, नि सग अकेले
मानव,
तुमको—मेरे भाई को।[1]

इसी कारण अज्ञेय दूसरे की मुक्ति के लिए लडना चाहते हैं

पक्षधर
और चिरंतन
हम लडना है
निरन्तर
आमरण अविराम -
पर सवदा जीवन के लिए
अपनी हर सास के साथ
पनपते इस विश्वास के साथ
कि हर दूसरे की हर सास को
हम दिला सकेंगे और अधिक सहजता,
अनाकुल उन्मुक्ति और गहरा उल्लास।[2]

अत अज्ञेय का यह नि सग ममेतर आध्यात्मिक भी है और मानवीय भी। आगन के पार द्वार' का जो आध्यात्मिक तू है वह वास्तव म मानवीय तू' के माध्यम स ही अभिव्यक्त होता है। दूसरे शब्दो म यही धारणा उनके उपयास अपने अपने अजनबी म भी अभिव्यक्ति पाती है जब सेल्मा कहती है सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है—कोई भी उपस्थिति ईश्वर है। क्याकि नही तो कोई उपस्थिति हो ही कसे सकती है।[3] इसी कारण यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि अज्ञेय मनुष्य और विभिन्न रूपा व स्तरा म प्रकट होने वाली इसकी जिजीविषा के महत्त्व को आत्यन्त स्वीकार करते चलते हैं। अरी ओ करुणा प्रभामय' की रूप-तृषा जिजीविषा का रूप लेती हुई कितनी नावो म कितनी बार' म एक सास्कृतिक बोध से सस्कारित होकर तितीर्षा के रूप म अभिव्यक्ति पाती है और इस

---

१ कितनी नावो में कितनी बार पृ ६२
२ वही पृ० ३१
३ अपने अपने अजनबी पृ० ५१

प्रकार अज्ञेय की काव्य-यात्रा तीर्थ-यात्रा की गरिमा प्राप्त कर लेती है

तीर्थों मे न भी हो पानी
—या मन्दिरो मे श्रद्धा, या देवता मे सत्ता—
पर यात्रा मे एक बात तो तूने पहचानी .
कि तीर्थों को तेरी ही तितीर्षा गढती रही ।
मन्दिरो मे कहाँ कुछ होता है ?
तेरी ही गति वहाँ पूजा पर चढती रही,
वही है मन्दिर का ऐश्वर्य, वही श्रद्धा की भी,
मूर्ति की भी अर्थवत्ता

पग-पग पर तीर्थ है
मन्दिर भी बहुतेरे है
तू जितनी करे परिकम्मा, जितने लगा फेरे
मन्दिर से, तीर्थ से, यात्रा से
हर पग से, हर साँस से
कुछ मिलेगा, अवश्य मिलेगा
पर उतना ही जितने का तू है अपने भीतर से दानी ।[1]

अज्ञेय का यह आत्मदान आत्मग्रहण भी है और आत्मज्ञान भी । इसमे अह के लिए कोई स्थान नही है । यह आत्मदान—यह समर्पण—व्यक्ति को बाधता नही । इसमे व्यक्ति स्वतन्त्र इयत्ता के साथ 'ममेतर' को समर्पित होता है । यही बात 'नदी के द्वीप' मे भी अज्ञेय व्यक्त करते है "समर्पण है तो वह न बाधता है, न अपने को बद्ध अनुभव करता है, केवल एक व्यापक कृतज्ञता मन मे भर जाती है कि तुम हो, कि मैं हूं ।"[2] यह समर्पण वास्तव मे 'तू' के माध्यम से 'मैं' के व्यक्तित्व की खोज की प्रक्रिया है । याज्ञवल्क्य ने भी कहा है : "जो भी वस्तु मेरी प्रिय है उसमे मैं अपने को ही सत्य रूप मे पाता हूँ, इसी से वह प्रिय है, वही सुन्दर है ।"

× × ×

अज्ञेय की सवेदना के इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि वे मूलत

१, कितनी नावो मे कितनी बार, पृ० ७०

२ नदी के द्वीप, पृ० ३३४

व्यक्तिवादी हैं—वह कहकर यह है कि इस व्यक्तिवाद का हम वर्णित करता याद वह क्योंकि अज्ञेय का व्यक्तिवाद अहंलीन नहीं है। व मानव्यक्ति की निजता का सुरक्षित रखना चाहते हैं यह निजता ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता एव विवेक के उपयोग की सुरक्षा है। वरण की स्वतन्त्रता अज्ञेय व्यक्ति का अधिकार मानते हैं क्योंकि यह उसकी निजता की सुरक्षा का प्रमाण है और उसके न रहने पर वह भौतिक या मानसिक स्तर पर अथहीन हो जाता है। अज्ञेय की मान्यता है कि चरम यन्त्रणा एव अनुभूति के क्षणों में व्यक्ति अकेला ही होता है मैं मानता हूँ कि चरम आवश्यकता के चरम दबाव के निर्णय लेने की आवश्यकता के क्षण में हर व्यक्ति अकेला होता है और इस अकेलेपन में वह क्या करता है इसी में उसके आत्मिक धातु की कसौटी है।"[1] अकेलेपन का यही भाव अज्ञेय की इस कविता में व्यक्त होता है

भीड़ में
जब-जब जिसमें आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अंगारे-सा—भगवान सा
अकेला।[2]

लेकिन यह अकेलापन कटा हुआ होना नहीं है और न इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञेय इकाई को समष्टि के ऊपर प्रतिष्ठापित करते हैं। वस्तुत निर्णय के क्षण के ऐसे अकेलेपन को वह व्यक्तित्व की कसौटी मानते हैं क्योंकि उसमें व्यक्ति अपने ही विवेकानुसार स्वातन्त्र्य के अधिकार का प्रयोग करता है। इसलिए अज्ञेय का अकेलापन समाज से विच्छिन्न होना नहीं—अपनी निजता के साथ समाज में रहना है और वे मानते हैं कि भारतीय दृष्टि यही रही है पूर्वी परिपाटी में व्यक्ति अकेला भी समाज का अंग बना रहता है आधुनिक पश्चिमी मानव संस्थागत होकर और अकेला अजनबी परिवार से कटा हुआ हो जाता है।[3] व्यक्ति की इस निजता की सुरक्षा का प्रमाण ही नहीं, उसकी नैतिकता की कसौटी भी यही वरण की स्वतन्त्रता

१ आत्मनेपद पृ० ६७ ६८
२ अरी ओ करुणा प्रभामय पृ० १६१
३ हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य प० १२७

है क्योंकि निर्णय की स्वतन्त्रता जब वह मागता है तो स्वभावत उसमे उद्भूत परिणामो के प्रति नैतिक दायित्व भी उसीका होता है : "मनुष्य की नैतिकता का क्या अर्थ है सिवा इसके कि वह अपने कर्म के लिए उत्तर-दायी है ? लेकिन जिस कर्म का उसने स्वेच्छा से वरण नही किया है—वह उसका कर्म कैसे है ? इसलिए अगर हम मनुष्य की वरण की स्वतन्त्रता नही मानते, तो हम उसकी नैतिकता की सम्भावना भी नही मानते।"[1] इस प्रकार 'अकेलेपन' से अज्ञेय आजकल का चालू अर्थ नही लेते और इसी कारण अकेलेपन की दु सह पीडा और सत्रास अज्ञेय मे नही मिलते। वहा मिलती है वेदना पर वह भी कटे होने की अनुभूति के कारण नही बल्कि अपनी 'चरम उपलब्धि' स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए। वह वेदना 'वरण की स्वतन्त्रता' की साक्षी है "मेरी वेदना ही मेरी स्वतन्त्रता का प्रमाण है। यदि मुझे स्वतन्त्र निर्वाचन का अधिकार न होता तो मुझे वेदना भी न होती। क्योंकि या तो मैं निर्विकल्प भाव से वही कर्म करता जो सही है या निर्विकल्प भाव से उसे स्वीकार करता जो सही नही है। मेरी विकल्प और वरण की स्वतन्त्रता का और क्या प्रमाण है सिवा मेरी वेदना के—सिवा उस कष्ट के जो मुझे अपने अधिकार का उपयोग करने मे होता है।"[2]

और जैसा कि हम समझ चुके है कि 'वरण की स्वतन्त्रता' व्यक्ति की 'निजता' के सुरक्षित रहने का प्रमाण है—यदि निर्णय की स्वतन्त्रता नही रही तो व्यक्ति की सुरक्षा कही नही है। जनतन्त्र के मूल मे भी क्या यही धारणा नही रही है कि व्यक्ति को अपने लिए निर्णय लेने की स्वाधीनता होनी चाहिए। लेकिन 'वरण की स्वतन्त्रता' का यह आग्रह सार्त्र की भाति किसी ऐसे दुराग्रह मे नही विकसित होता जो दूसरे को 'नरक' समझता हो तथा 'मम' और 'ममेतर' के बीच तनावपूर्ण सम्बन्ध को अनिवार्य मानता हो। अज्ञेय ने इस अजनबीपन, अकेलेपन और वरण के प्रश्नो पर अपने उपन्यास 'अपने अपने अजनबी' मे भी विचार किया है—वही इस उपन्यास की मूल वस्तु है। इस उपन्यास मे अज्ञेय यह तो मानते है कि वरण-

---

१ एक बूंद सहसा उछली, पृ० ३१२-१३

२ आत्मनेपद, पृ० २५१-५२

स्वातन्त्र्य सभी को प्राप्त है लेकिन वे अहवादी व्यक्ति की अनिवार्य नियति का उल्लेख भी कर देते हैं। अज्ञेय की अपनी धारणा रही है कि निर्णय के क्षण के अकेलेपन या वरण-स्वातन्त्र्य का अर्थ मानव विरोधी या मानव स — ममत्तर से घृणा का भाव विकसित होना नही है। कब्र मे वन्द स्थिति का स्वीकार करते हुए भी सल्मा की विशिष्टता वसी ही बनी रहती है वल्कि याके को भी यही लगता है कि सेल्मा स्वतत्र है। सेल्मा योके की तरह भयकर अहवादी नही है—वह अन्य के साथ भी है और अकेली भी —योके के साथ रहते हुए भी वह अपनी निजता को सुरक्षित रखे है जबकि योके उसकी उपस्थिति का सहन भी नही कर पाती (क्या यह एक प्रकार से निजी चेतना पर अन्य का हावी हो जाना ही नही है?)। योके का अकेलापन जो लेखक की दृष्टि म पश्चिमी व्यक्ति का अकेलापन है अत म स्वघाती सिद्ध होता है जब कि सल्मा—जो पूर्वी दृष्टि का प्रतीक बनती है (यान से विवाह के पश्चात) मृत्यु का स्वीकार करते हुए भी उससे भयभीत नही है। वह एसी अहवादी स्वतन्त्रता को भी एक प्रकार का बधन ही मानती है—अह बधन है भी न तो हम अकले है न हम स्वतत्र हैं। वल्कि अकले नही है और हो नही सकते इसलिए स्वतत्र नही है और इसीलिए चुनने या पसन्द करने का अधिकार हमारा नही है। मैंने तुम्हे बताया था कि मैं चाहती थी कि अकेली मरू। लकिन क्या वह निश्चय करना मेरे वस का था? क्या मैं अपनी मनपसन्द परिस्थिति चुन सकी? और तुम—क्या तुम स्वतत्र हो कि मुझे मरती हुई न देखो? ऐसी सब स्वतत्रताओ की कल्पनाए निरा अहकार है—और उसीस स्वतन्त्रता को छोडकर कोई दूसरी स्वतन्त्रता नही है।[1] अतिम पक्तियाँ स्पष्ट कर देती हैं कि स्वतन्त्रता से अज्ञेय का तात्पर्य क्या है। और इसीलिए सल्मा स्वतत्र है क्योकि स्थितियो का वरण चाहे वह न कर पाए पर स्थितियो के प्रति अपने रुख का वरण वही करती है और इसी कारण याके जहा मृत्युगध स परेशान है और अपने अन्दर निरा अधकार के कुछ नही देखती—वहा सल्मा जो याके की अपेक्षा मृत्यु के बहुत अधिक निकट है मृत्यु का सहज भाव म स्वीकार करती हुई भी वर्फ की कब्र के बाहर की धूप की सम्भा

---

1 अपने अपने अजनबी पृ० ६

वना को अपने मे मूर्त कर लेती है।[1]

इस प्रकार स्पष्टत ही अज्ञेय 'वरण की स्वतत्रता' का तात्पर्य आत्मघाती स्वतन्त्रता से नही लेते और यहा यह भी साफ हो जाता है कि उनका वैयक्तितावाद अहवाद से कितना अलग है। इसलिए अज्ञेय अपने पूरे साहित्य मे कही भी समाज-विरोधी नही होते (साधारणतया यह आरोप उनपर लगाया जाता रहा है)—समाज की प्रचलित रूढ नैतिकता सम्वन्धी मान्यताओ के विरोधी वे अवश्य रहे है क्योकि ऐसी मान्यताए ही समाज मे कुण्ठा को जन्म देती है, जवकि अज्ञेय का आदर्श है. कुण्ठरहित इकाई। वस्तुत 'नदी के द्वीप' कविता मे 'द्वीप' प्रतीक से अज्ञेय का तात्पर्य देश-काल (भू-खण्ड व नदी) से कटना नही था, वे वैयक्तिकता की सुरक्षा ही चाहते थे अन्यथा 'शेखर एक जीवनी' के 'प्रवेश' मे वे जीवन को वूद की सज्ञा नही देते "एक वूद जो स्वय कुछ नही है किन्तु जिसके विना उस प्रवाह मे गति नही आ सकती—जिसके विना उसका अस्तित्व ही नही हो सकता।"[2] और यही कारण है कि वे पुन. पक्ति को समर्पित होते हुए भी 'निजता' की सुरक्षा रखते है। वास्तव मे 'दीप-अकेला' कविता अज्ञेय के जीवन-दर्शन का वीज-मत्र है।

इस रूप मे अज्ञेय पश्चिम के उस त्रासदायक अकेलेपन से दूर हट जाते है जिसका आख्यान नयी कविता के अन्य कई कवियो मे होता रहा है। इतना ही नही वे 'निजता' को सुरक्षित रखते हुए इस अकेलेपन को मिटाना चाहते है क्योकि उनका इष्ट स्वतत्रता है—अकेलापन नही। अन्यथा यह अकेलापन व्यक्तित्व के समुचित विकास मे वाधा है.

जानता क्या नही निज मे वद्ध होकर है नही निर्वाह ?
क्षुद्र नलकी मे समाता है कही वेथाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यजना का तेज दीप्त प्रवाह ।
जानता हूँ। नही सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वय का दान
विश्व-जन की अर्चना मे नही वाधक था कभी इस व्यष्टि
का अभिमान।

---

१ अपने-अपने अजनवी, पृ० ३७
२ शेखर एक जीवनी, पृ० १५

फिर भी यदि वे व्यक्तित्व के गौरव पर बल देते हैं तो इसीलिए कि

'व्यक्ति अणु की है सदा गुरुपुंज का सम्मान।'[1]

अत अज्ञेय अपने अकेलेपन का सहयोगी सभी का बनाते हैं—और स्वयं सभी के साथ अपनी चेतना का संपर्क करते हैं। 'एकान्त रिरियाता कुत्ता', 'मीनार शिखर का प्रार्थी मुल्ला', 'अहलीन शिशु भिक्षुक' आदि इसीलिए अज्ञेय के ससार के अनिवार्य अंग हैं

मैं हूँ य सब ये सब मुझ म जीवित

मेरे कारण अवगत—मेरे चेतन म अस्तित्व प्राप्त।[2]

इस तरह अज्ञेय की दुनिया केवल अपने तक सीमित नहीं है—चेतना ही मनुष्य का ससार है और अज्ञेय की चेतना म ममेतर के प्रति सामजस्य का भाव ही अधिक है—वे अपने से विस्तृत जीवन से मिलना चाहते हैं "जीवन की बात जब मैं कहता हूँ तब अपने से बड़े एक संयुक्त व्यापक समष्टिगत जीवन की बात सोचता हूँ—उसी के साथ एक होना चाहता हूँ—अगर वह बहुत बड़ा प्रवाह है तो उसकी धारा को बाहों से घेर लेना चाहता हूँ—या वह छोटे मुँह बड़ी बात न लगे तो बहू उस पर एक पुल बाँधना चाहता हूँ चाहे क्षण भर के लिए।' यह पुल बाँधने म ही नहीं स्वयं को ही उसमे रूपान्तरित करने और दोनों ओर से रौंदे जाने को भी वे स्पृहणीय मानते हैं

मैं सेतु हूँ

किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं

वह सेतु

जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है

जो हृदय से हृदय को

श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को

कल्पना के पख से कल्पना के पख को

विवेक की किरण से विवेक की किरण को

---

1 पूर्वा पृ २

2 वही 136

3 नदी के द्वीप पृ० 21

अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है
मानव को एक करता है
समूह का अनुभव जिसकी मेहरावे है
और जनजीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से
वहती है

मुडती, वल खाती
नये मार्ग को फोडती
नये करारे तोडती
चिर परिवर्तनशीला, सागर की ओर जाती, जाती··· ··[1]

लेकिन भीड मे खो जाना ही समूह के साथ मिलना नही है। भीड मे रहते हुए भी आदमी अकेला व अजनवी ही रहता है—भीड नही हो पाता और जो 'निजता' को खोकर भीड हो जाता है, उसके लिए भीड के साथ होने न होने का अर्थ ही नही है। अपनी उस 'निजता' का दान जरूर अकेलेपन को मिटा सकता है क्योकि 'दान' चेतना का स्वतत्र निर्णय है अत समूह मे मिलता हुआ भी विशिष्ट है, यान्त्रिक जडता भी वहा नही है क्योकि अकेलेपन के न रहने की चेतना भी मानसिक प्रक्रिया ही हे, इसीलिए अज्ञेय कहते हे "अकेलो की भीड से अकेलापन नही मिटता, किन्तु अकेले के आत्मदान से मिट सकता है।"[2] इस प्रकार अज्ञेय जिस व्यक्तित्व की वात करते है वह निरा अहवादी या आत्मकेन्द्रित नही है वरन् वे तो 'व्यक्तित्व' के प्रसार को ही सस्कृति का लक्षण मानते है। अहवादी व्यक्तित्व मे वस्तुत· 'प्रभुत्व की अदम्य लालसा' होती है जो अन्ततोगत्वा या तो आत्मघाती होती है या परघाती। और फिर यह लालसा भी क्या असुरक्षा की गहरी मनोग्रथि से ही उद्भूत नही होती ? अत अहवादी व्यक्तित्व न तो सहज हो सकता हे और न सुसस्कृत क्योकि वह भय से मुक्त नही होगा। इस प्रकार के भय की भावना व्यक्ति मे कुण्ठा पैदा करती है—'कुण्ठा रहित' नही करती। लेकिन यह व्यक्तित्व निजताहीन व्यक्तित्व भी नही है क्योकि जहा वैयक्तिकता ही नही है वहाँ सस्कृति

---

१ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० २१-२२
२ आत्मनेपद, पृ० २६२

की गुंजाइश कहाँ रह जाती है—वहाँ फिर संस्कार किसका और क्या? व्यक्तित्वहीन जीवन का आनन्द क्या लिया जा सकता है—कौन लेगा? आनन्द की भावना भी क्या रह जाएगी? स्वयं अज्ञेय ही के शब्दों में संस्कृति व्यक्तित्व का विस्तार और प्रसार माँगता है संकोच या छँटाव नहीं। संस्कारी व्यक्ति बराबर नयी उपलब्धियों को आत्मसात् करता चलता है। संस्कृत व्यक्ति की आत्मसज्जा या अलंकृति किसी व्यक्ति या वस्तु के मुकाबिले में, उसके विरुद्ध उभरकर आने के लिए नहीं होती—जैसे घर या बैठक की सजावट या मित्रमंडली या प्रेमी, बल्कि वह उन्हें अपने में घेर लेती है।[1] अतः स्पष्ट है कि अज्ञेय अहं पर जोर नहीं देते, उनका आग्रह है वैयक्तिकता पर जिसका प्रमाण स्वातन्त्र्य के उपयोग की वेदना है। यही कारण है कि अज्ञेय रूढ़ सामाजिक नैतिकता के प्रति विद्रोह व्यक्त करते हैं। उनकी यौन-उपमान वाली सभी कविताएँ—विज्ञापन जनाह्वान कविता की मूल विषय-वस्तु यही सामाजिक विद्रोह है। जो रूढ़ व्यवस्था व्यक्तित्व को कुण्ठित करती हो उसे संस्कृतिसम्पन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि संस्कृति का ह्रास का लक्षण ही कुण्ठित व्यक्ति है। यही कारण है कि नैतिक सामाजिक तथा राजनैतिक—सभी स्तरों पर अज्ञेय रूढ़ व्यवस्था के प्रति विद्रोह अभिव्यक्त करते हैं। एक सत्ता व सर्वसत्तावादी राज्य के प्रति भी अज्ञेय इसीलिए अनुकूल विचार नहीं रखते—क्योंकि उस व्यवस्था में निजता की सुरक्षा कहीं नहीं है। स्वयं अज्ञेय के ही अनुसार नागर एवं जीवन की मूल समस्या 'स्वातन्त्र्य की खोज' ही है। प्रजातन्त्र तथा मानवेन्द्रनाथ राय के राजनैतिक दर्शन में अज्ञेय की आस्था इसीलिए है कि वहाँ निजता की सुरक्षा है—व्यक्तित्व का प्रसार है—कुण्ठा का स्थान नहीं है। सर्वसत्तावादी राजनैतिक व्यवस्था के स्थान पर अज्ञेय प्रजातन्त्र को इसलिए चुनते हैं—यह मानते हुए भी कि दुनिया में निर्दोष प्रजातन्त्र अभी बना नहीं है—कि वहीं स्वातन्त्र्य और निजता की सुरक्षा है। कुछ सामाजिक राजनैतिक संगठन ऐसे होते हैं कि अनिवार्यतया स्वातन्त्र्य को सीमित करते चलते हैं, और कुछ ऐसे हैं कि उस बढ़ाव की ओर दत्तचित्त होते हैं तो न केवल

---

[1] एक बूँद सहसा उछली पृ० ११८

स्वातंत्र्य के होने या न होने को लक्ष्य करूँगा वरन् इस बुनियाद की ओर भी ध्यान दिलाऊगा। और मेरा विश्वास है कि यह बात इतिहास द्वारा प्रमाणित है कि कम्युनिज्म इस स्वातत्र्य को अनिवार्यतया कम करता है, लोकतत्र उसे प्रसारित करता है। इसलिए दोनो मे लोकतत्र का वरण करता हूं। सम्पूर्ण निर्दोष लोकतत्र अभी दुनिया मे कही भी नही है, यह ठीक है, उसकी कमियो की आलोचना होनी चाहिए यह मान लेता हूं। सपूर्ण कम्युनिज्म भी कही नही आया है अत उसके वर्तमान दोषो से ही उसकी अतिम परिणति का मूल्याकन न किया जाय--तर्क के लिए यह भी मान लेने को तैयार हू। पर क्योकि उसकी अन्तिम परिणति मे भी व्यक्ति-स्वातत्र्य के लिए जगह न होगी, जब कि लोकतत्र के परिवर्तन उसे बढाने--या और सकुचित न करने के प्रति सजग है, इसलिए दोनो मे लोकतत्र की वर्यता प्रमाणित है। कौन अपने घर मे क्या करता है इससे मुझे आवश्यकता से अधिक प्रयोजन नही है। सैद्धान्तिक रूप से मै लोकतत्र को कम्युनिज्म से अच्छा समझता हूँ। और लोकतत्र को बुनियादी (रेडिकल) अथवा प्राथमिक (प्राइमरी) रूप दिया जा सके ऐसी चेष्टा का अनुमोदन करता हूँ। एम० एन० राय के विचारो की यही दिशा थी, विनोवा के विचारो की भी यही है, जयप्रकाश नारायण की भी। तीनो अलग-अलग रास्तो से उधर आए है या आ रहे है, उससे क्या ? इससे भी क्या कि एक दृष्टि बुद्धिवादी, भौतिकतावादी, मानववादी है और दूसरी ईश्वरपरक और अध्यात्मवादी।"[1] और लोकतत्र केवल राजनैतिक व्यवस्था ही नही है--एक दर्शन भी है जिसका इष्ट व्यक्ति का स्वातत्र्य वनाए रखना ही है--जहॉ व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति की स्वतत्रता पर कोई अधिकार नही है। स्पष्ट है कि सामाजिक या धार्मिक शोषण का विरोध भी अज्ञेय इसलिए करते है, चाहे सामाजिक व्यवस्था उसका समर्थन करती हो। किसी दर्शन मे विश्वास रखते हुए भी उससे विपरीत विचार का समर्थन रूढ सामाजिक नैतिक मान्यताओ के आधार पर करना निश्चय ही अनैतिक है--व्यापक स्तर पर कुण्ठा को जन्म देने वाला है। इसीलिए अज्ञेय व्यक्ति-स्वातत्र्य का दायित्व भी व्यक्ति का ही मानते

---

१ आत्मनेपद, पृ० १६८-६६

की गुजाइश कहा रह जाती है—वहा फिर सस्कार किसका और क्या ? वयक्तिकताहीन जीवन का आनन्द क्या लिया जा सकता है—कौन लेगा? आनन्द की भावना भी क्या रह जाएगी ? स्वय अज्ञेय ही के शब्दो म

सस्कृति व्यक्तित्व का विस्तार और प्रसार मागती है सकोच या छँटाव नही। सस्कारी व्यक्ति बराबर नयी उपलब्धियो को आत्मसात् करता चलता है। सस्कृत व्यक्ति की आत्मसज्जा या अलकृति किसी व्यक्ति या वस्तु के मुकाबिले म उसके विरुद्ध उभरकर आने के लिए नही होती—जस घर या बठक की सजावट या मित्रमडली या प्रमी बल्कि वह उह अपने म घर लेता है।[1] अत स्पष्ट है कि अज्ञेय अह पर जोर नही देते उनका आग्रह है वयक्तिकता पर जिसका प्रमाण स्वातत्र्य के उपयोग की वेदना है। यही कारण है कि अज्ञेय रूढ सामाजिक नतिकता के प्रति विद्रोह व्यक्त करते ह। उनकी यौन उपमान वाली सभी कविताए—विशेषत जनाह्वान कविता की मूल विषय वस्तु यही सामाजिक विद्रोह है। जो रूढ व्यवस्था व्यक्तित्व को कुण्ठित करती हो उसे सस्कृतिसम्मत नहा कहा जा सकता क्योकि सस्कृति का ह्रास का लक्षण हो कुण्ठित व्यक्ति है। यही कारण है कि नतिक सामाजिक तथा राजनतिक—सभी स्तरो पर अज्ञेय रूढ व्यवस्था के प्रति विद्रोह अभिव्यक्त करते है। यन्त्र सभ्यता व सवसत्तावादी राज्य के प्रति भी अज्ञेय इसीलिए अनुकूल विचार नही रखते—क्योकि इस व्यवस्था म निजता की सुरक्षा कही नहा है। स्वय अज्ञेय के ही अनुसार नागर एव जीवनी की मूल समस्या स्वातत्र्य की खोज ही है। प्रजातत्र तथा मानवेन्द्रनाथ राय के राजनतिक दशन म अज्ञेय की आस्था स्थापित है कि वही निजता की सुरक्षा है—व्यक्तित्व का प्रसार है—कुण्ठा का स्थान नहा है। सवसत्तावादी राजनतिक व्यवस्था के स्थान पर अज्ञेय लोकतत्र को इसलिए चुनते है—यह मानते हुए भी कि दुनिया म निर्दोष लोकतत्र अभी कही नहा है—कि वही स्वातत्र्य और निजता की सुरक्षा है कुछ सामाजिक राजनतिक सगठन एस होते है कि अनिवायतया स्वातत्र्य को सीमित करते चलते है और कुछ एस है कि उस बढाव की ओर उन्मुख होते है तो न केवल

---

१ [illegible] पृ ११८

स्वातत्र्य के होने या न होने को लक्ष्य करूँगा वरन् इस बुनियाद की ओर भी ध्यान दिलाऊगा। और मेरा विश्वास है कि यह बात इतिहास द्वारा प्रमाणित है कि कम्युनिज्म इस स्वातत्र्य को अनिवार्यतया कम करता है, लोकतत्र उसे प्रसारित करता है। इसलिए दोनो मे लोकतत्र का वरण करता हूं। सम्पूर्ण निर्दोष लोकतत्र अभी दुनिया मे कही भी नही है, यह ठीक है, उसकी कमियो की आलोचना होनी चाहिए यह मान लेता हूं। सपूर्ण कम्युनिज्म भी कही नही आया है अत उसके वर्तमान दोषो से ही उसकी अतिम परिणति का मूल्याकन न किया जाय—तर्क के लिए यह भी मान लेने को तैयार हूं। पर क्योकि उसकी अन्तिम परिणति मे भी व्यक्ति-स्वातत्र्य के लिए जगह न होगी, जब कि लोकतत्र के परिवर्तन उसे बढाने—या और सकुचित न करने के प्रति सजग है, इसलिए दोनो मे लोकतत्र की वर्यता प्रमाणित है। कौन अपने घर मे क्या करता है इसमे मुझे आवश्यकता से अधिक प्रयोजन नही है। सैद्धान्तिक रूप से मैं लोकतत्र को कम्युनिज्म से अच्छा समझता हूँ। और लोकतत्र को बुनियादी (रेडिकल) अथवा प्राथमिक (प्राइमरी) रूप दिया जा सके ऐसी चेष्टा का अनुमोदन करता हूँ। एम० एन० राय के विचारो की यही दिशा थी, विनोबा के विचारो की भी यही है, जयप्रकाश नारायण की भी। दोनो अलग-अलग रास्तो से उधर आए है या आ रहे है, उसमे क्या? इसमे भी क्या कि एक दृष्टि बुद्धिवादी, भौतिकतावादी, मानववादी है और दूसरी ईश्वरपरक और अध्यात्मवादी।"[1] और लोकतत्र केवल राजनैतिक व्यवस्था ही नही है—एक दर्शन भी है जिसका इष्ट व्यक्ति का स्वातत्र्य बनाए रखना ही है—जहां व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति की स्वतत्रता पर कोई अधिकार नही है। स्पष्ट है कि सामाजिक या धार्मिक शोषण का विरोध भी अज्ञेय इसलिए करते है, चाहे सामाजिक व्यवस्था उसका समर्थन करती हो। किसी दर्शन मे विश्वास रखने हुए भी उससे विपरीत विचार का समर्थन रूढ सामाजिक नैतिक मान्यताओ के आधार पर करना निश्चय ही अनैतिक है—व्यापक स्तर पर कुण्ठा को जन्म देने वाला है। इसीलिए अज्ञेय व्यक्ति-स्वातत्र्य का दायित्व भी व्यक्ति का ही मानने

---

1 आत्मनेपद, पृ० १९८-९९

है। कहा जा सकता है कि यह वैयक्तिकता समाज विरोधी भी हो सकती है—पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अज्ञेय की विचारणा समाज विरोधी है। ऐसा तभी माना जा सकता है जब व्यक्ति और समाज अनिवार्यतया एक-दूसरे के प्रति विरोधी हों—पर ऐसा है नहीं। तो फिर यह समाज विरोधिता एक संभावना ही रहती है—लेकिन संभावना तो यह भी रहती है और अधिकांशतः निर्धारित भी हो जाती है कि प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से दबा व्यक्ति अपना सहज विकास न कर सके बल्कि कई बार तो पूरी जाति सामाजिक व्यवस्था से मानसिक स्तर पर ऐसे बद्ध हो जाती है कि उससे अलग कुछ सोचना भी संभव नहीं रहता। व्यावहारिक स्तर पर हमारी जाति का अनुभव भी बताता है कि बहुसंख्यक व्यक्ति इसी प्रकार दबे रहते हैं जिसके कारण सामाजिक पाखण्ड प्रबल होता जाता है। जहाँ सामाजिक पाखण्ड है—वहाँ संस्कृति की स्थिति हो ही नहीं सकती। इस संदर्भ में अज्ञेय का यह कथन अधिक संगत लगता है "सच्चाई में जोखिम है—पर जोखिम से बचने की गुंजाइश तो है जबकि पाखण्ड निश्चित मरण है—नीरन्ध्र अमोघ सर्वनाश।"[1] और फिर अज्ञेय यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि वैयक्तिक विवेक निरंकुश नहीं होता—बल्कि विवेक जहाँ है निरंकुशता वहाँ हो ही नहीं सकती। 'निजता' विवेक से संस्कारित होकर जब समूह के संस्कार से जुड़ती है तभी संस्कृति का जन्म होता है। और अज्ञेय का निजता पर इतना आग्रह भी इसीलिए है कि वे संस्कृति की सुरक्षा इसीमें देखते हैं। ऐसी स्थिति में अहंवादी और निरंकुश व्यक्तित्व तो अज्ञेय का आदर्श हो ही नहीं सकता क्योंकि संस्कृति दीक्षा और अनुशासन माँगती है। बिना अनुशासन के 'संस्कृति टिक नहीं सकती। आनन्दोपभोग की क्रिया भी वह अनुशासन माँगती है। इन्द्रियों के और मन के प्रशिक्षण में उपभोग के साथ साथ विवेचन में पहचानने परखने विविक्त करने मूल्य आँकने और निर्देश देने में अधिकाधिक ही हमें बर्बरता से संस्कृति की ओर ले जाता है और संस्कृति से कला की ओर बढ़ने की सामर्थ्य देता है।"[2] उथल

---

१ आत्मनेपद पृ० ६६

२ वही पृ० २५७

स्तर पर विरोधाभास यहाँ लग सकता है। जब व्यक्ति को 'वरण' की स्वतत्रता है तो अनुशासन कैसा ? किसका ? इसलिए फिर यह स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है कि संस्कृति बाह्य नियमों व थोपे गए अनुशासन से संचालित नहीं होती क्योंकि यह सब शीघ्र ही रूढि में परिवर्तित हो सकता है, जिसके साथ ही संस्कृति की गिरावट आरम्भ हो जाती है। यदि ये बाह्य नियम सतत् परिवर्तनशील भी रहे तो देखना यह होगा कि इस परिवर्तन का आधार क्या है व इसकी प्रेरणा कहा है ? बात घूम-फिर कर पुन व्यक्ति के स्वातत्र्य और विवेक पर लौट आती है। इस प्रकार अनुशासन भी अकुश न रहकर आतरिक बोध हो जाता है "संस्कृति अनुशासन नही है वह अनुशासन का सहज आभ्यन्तर बोध है। संस्कृत व्यक्ति नियम को मानकर नही चलता, नियम उसके भीतर से नि सृत होता है।"[1]

आज के नागर जीवन, विशेषत महानगरो के जीवन के प्रति अज्ञेय में वितृष्णा का भाव इसीलिए है कि वहाँ निजता की सुरक्षा दूभर है, वहाँ की कृत्रिमता और मृषा संस्कृति की अनिवार्यत विरोधी है। इस जीवन मे रहनेवाले का कुण्ठाओ से ग्रसित होना अधिक सभव है—समूह के साथ रहते हुए भी वह उससे जुड नही पाता अत अकेलेपन और अवशता की अनुभूति उसे घेर लेती है। यदि बहुसख्यक लोग इस अवशता को महसूस करते रहे तो क्या एक कुण्ठित और पतनोन्मुख नपुसक समाज का जन्म नही होगा ? अज्ञेय हिन्दी के ऐसे अग्रणी कवि है जिन्होने न केवल इस खतरे को पहचाना है वरन् इससे मुक्ति का उपाय खोजने की भी चेष्टा की है। नगर-बोध की जो चर्चा हिन्दी मे अब तक होती रही है—इसके सूत्र अज्ञेय-काव्य मे 'तार सप्तक' से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते है जो आगे चलकर काफी विकसित हुए है.

बडे शहर के ढग और हैं हम गोटे है वहा
दाव गहरे है उस चौपट के।[2]

'रामायनिक धुध' की झिल्ली मे पनप रहे परिचमी समूह-जीवन का यह

---

१ आत्मनेपद, पृ० २५८
२ बावरा अहेरी, पृ० ४१

नित्र थया उगी आर यह रू पूरी गमूर-जायन का भी चित्र नना हा सकता

एक मृषा जिसमें सब टूट हुए है
क्योंकि एक सत्य जिसस सब ऊब हुए हैं
एक तृषा जो मिट नही सकती इसलिए मरन नही देती
एक गति जो विवश चलाती है इसलिए कुछ करने नही देती
स्वातन्त्र्य के नाम पर मारते हैं मरते है
क्योंकि स्वातन्त्र्य स डरते हैं।[1]

जबकि यह स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्य का असल तात्पर्य निजता की सुरक्षा ही है। अज्ञेय यहाँ भी न केवल मान्त्रिक सभ्यता स उत्पन्न अवशता को हेय मानते हैं वरन् अहवादी स्वतन्त्रता का भी—या कि उस व स्वतन्त्रता स डरने का ही परिणाम समझते है। स्वातन्त्र्य के नाम पर मारने मरने की प्रवृत्ति का चित्रण अपने अपने अजनबी में भी हुआ है जहाँ अहवादी स्वतन्त्रता की दावेदार योके पहले तो सेल्मा की हत्या करना चाहती है और उपन्यास के अन्त में स्वयं भी आत्महत्या कर लेती है। अज्ञेय ने अन्यत्र भी ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं जहाँ मत्यु का भय है वहाँ आत्म हत्या की प्रवत्ति भी जाग उठती है—यदि वह प्रवत्ति पर हत्या की प्रवत्ति का रूप नही ले लेती।[2] इतना हम भी जोड दें कि जहाँ भय की प्रवत्ति है वहाँ स्वतन्त्रता कहाँ ?

इस समस्या का समाधान भी अज्ञेय पूर्वी दृष्टि में ही देखते है। वे समष्टि से कटते नही किन्तु व्यक्ति के माध्यम स ही उससे जुडना चाहते हैं। वस्तुत यन्त्र एव राज्य तथा अर्थतन्त्र ने समष्टि का रूपाकार कुछ इस ढाँचे म ढाल दिया है कि व्यक्ति वहाँ मात्र चौसर की गोट ही रह जाता है। ऐसी व्यवस्था में वह भीड होकर अवश चलता जाता है—बिना जाने कि किधर जा रहा है। इस प्रकार वरण का स्वातन्त्र्य विवेक और निजता सभी कुछ शून्य हो जाता है और वह अज्ञेय की ही शब्दावली में 'प्रतिमा नही मात्र ठप्पा रह जाता है। इस स्थिति के पूरे विश्लेषण के

---

१ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये पृ० ६३
२ एक बूँद सहसा उछली प ३१६

पश्चात् अज्ञेय इसी निष्कर्ष पर पहुँचते प्रतीत होते है कि व्यक्ति और व्यक्ति की सपृक्ति के माध्यम से ही व्यक्ति और समष्टि की सम्पृक्ति प्राप्त की जा सकती है। यहा सस्कृति की सुरक्षा है "यन्त्र-सभ्यता या सर्व नियन्त्रक राज्य-सत्ता के मुकावले मानव-व्यक्ति का जो व्यर्थीकरण या अकिचनीकरण आज देखने मे आता है (प्रक्रिया का नाम उतना ही कृत्रिम है जितनी वह प्रक्रिया है), जिस प्रक्रिया से उसे एक जिन्सी इकाई वनाकर न कुछ के वरावर कर दिया जाता है, उसके प्रति विद्रोह से एक नया आत्म-साक्षात्कार हो सकना चाहिए। वैसा साक्षात्कार और उसके वाद ऐसी नयी आत्म-चेतन इकाइयो का नया सलाप और परस्पर सपृक्ति—इससे सघर्ष की नयी खाई न वनकर उसके पार एक नया सेतु वन सकेगा। भविष्य की आशा इसी मे हो सकती है।"[1]

यह सलाप या सवाद अनवरत रूप से सम्पूर्ण अज्ञेय-काव्य मे मिलता है, वल्कि हम पहले ही विश्लेपण कर चुके है कि अज्ञेय की सवेदना की वुनावट ही मूलत सवादात्मक है। अज्ञेय ही क्यो, भारतीय परम्परा भी सवादी स्वरो को श्रेय मानती आई है अत अज्ञेय अपने इस समाधान द्वारा पुन भारतीय विचार-परम्परा से जुडते है—या कहे कि आधुनिक युग की सवसे प्रवल समस्या का समाधान वे भारतीय दृष्टि से करते है जो पश्चिम से भी सस्कारित है। इस प्रकार उनका समाधान देशवद्ध भी है, कालवद्ध भी और साथ ही सनातन भी। आधुनिक दृष्टि और क्या होती है ? इसीके परिणामस्वरूप करुणा व प्यार की मुक्त धारा अज्ञेय की कविता मे प्रवाहित रही है। यह भाव ही उन्हे जीवन व सौन्दर्य के प्रति उन्मुख करता है .

मेघो को सहसा चिकनी अरुणाई छू जाती है
तारागण से एक शीति-सी छनकर आती है
क्योकि तुम हो।
....
. ...
जीवन का हर कर्म समर्पण हो जाता है

---

१ हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० १३१

आस्था का आप्लावन एक संशय के कल्मष धो जाता है
क्योंकि तुम हो।
कठिन विषमताओं के जीवन में लोकोत्तर का सुख स्पन्दन
मैं भरता हूँ
अनुभव की कच्ची मिट्टी को तदाकार कंचन करता हूँ
क्योंकि तुम हो।[1]

यह 'तुम' वस्तुत और कोई नहीं वरन व्यक्ति का राग पूरित सम्बन्ध ही है। इसी राग-सम्बन्ध के कारण विषमताओं के जीवन में लोकोत्तर सुख का स्पन्दन' ही नहीं भरता वरन् इन क्षणों की अनुभूति नश्वरता का बोध भी मिटा देती है क्योंकि वह तो काल क्रम से बँधी है जब कि अनुभूति के क्षण काल से पृथक्‌ता के—अमतत्व के—क्षण हैं। दूसरे शब्दों में, अनुभूति के सघन क्षण ही जीवन को आलोक-स्नात करते है उसे अर्थवत्ता देते है

एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से
रँगी गयी क्षण भर
ढलते सूरज की आग से।
मुझको दीप्त गया
सूने विराट के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से।[2]

और इसी सत्य की घोषणा कवि अन्यत्र करता है

सांस का पुतला हूँ मैं
जरा से बँधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ
पर एक जो प्यार है न उसी के द्वारा
जीवन्मुक्त मैं किया गया हूँ।

---

१ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये पृ० ४६
२ अरी ओ करुणा प्रभामय पृ० १४०

काल की दुर्वह गदा को एक

कौतुक भरा वाल-क्षण तौलता है।[1]

प्यार मे अज्ञेय की यह आस्था मनुष्य मे उनकी आस्था की ही प्रतीक हे। वे कहते भी हैं "मानव-नियति मे विश्वास खोना मानव की प्रतिष्ठा की लडाई हार जाना है।"[2] यह आस्था उनकी कई कविताओ मे व्यक्त हुई है जिसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हे। मानव-व्यक्ति के प्रति प्यार और करुणा मे उनकी आस्था तथा उसी के कारण मृत्यु-भय से मुक्ति अज्ञेय की जीवन-दृष्टि की दिशा निर्धारित कर देती है। जीवन का महत्त्व इसीलिए है कि मनुष्य सबसे वडा सत्य है .

परे मनुज से नही कही कुछ

इसी तर्क से

जीवन स्वत प्रमाण है

दो, दो, खुले हाथ से दो .

कि अस्मिता-विलय

एकमात्र कल्याण है।[3]

अहं का यह विलीनीकरण ही मनुष्य एव जीवन के प्रति व्यक्ति का समर्पण भी है और उपलब्धि भी क्योकि इसी से जीवन का आनन्द लेने की क्षमता उद्भूत होती है और उसके प्रति आसक्ति भी नही रहती। आसक्ति सूक्ष्म स्तर पर आनन्द के उपभोग मे वाधा है। वह भय और आशका को जन्म देती है और जहाँ भय है वहाँ आनन्द कहाँ ? इसीलिए अज्ञेय कहते है .

चढ डोले पर चली जा रही

काल की दुलहिन

साथी,

उसी गैल मे तुम स्वेच्छा से

अपना घोडा डाल दो

यह जो अप्रतिहत सगीत है

---

१ आँगन के पार द्वार, पृ० ३६

२ नदी के द्वीप, पृ० ८२

३ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० ४६

तुम भी उस पर ताल दो।
यह सुंदर है यह शिव है
यह मेरा हो पर बँधा नही है मुझसे
निजी धर्म से सत्य है।
जीवन नि स्वार्थ समर्पण है
जीवन का
एक यही तो सत्य है।[1]

और इसी समर्पण के कारण अज्ञेय जीवन को एकाकी या अकेला नही मानते क्योंकि वह जीवन तभी है जब वह इतर से जुड़ता है और पाता है

क्योंकि यही सब तो है जीवन
गरमाई मिठास हरियाली उजाला
गंधवाही मुक्त खुलापन
लोच उल्लास लहरिल प्रवाह
और बोध भव्य
निर्व्यास निस्सीम का
ये सब उधार पाए हुए द्रव्य।[1]

लेकिन अज्ञेय ये सब वस्तुएँ जैसे प्राप्त करते है वैसे ही देते भी है (लेकिन किसी अन्वेषण का नहीं) क्योंकि तभी तो समर्पण पूर्ण है इस प्रकार उनका ग्रहण भी दान में परिवर्तित हो जाता है

मेरे भीतर जागा
दाता
बोला
लो यह सागर मैंने तुम्हें दिया

---

१ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये पृ० ४८
२ कितनी नावों में कितनी बार पृ० १

लो यह हरी-भरी धरती, यह सवत्सा कामधेनु मैंने
तुम्हे दी

. . ..

....

यह रूप जो केवल मैंने देखा
यह अनुपम अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया
सब तुम्हे दिया

.. ..

....

लो यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हँसी
यह आहूत, यह स्पर्शभूत भाव
यह मै, यह तुम, यह खिलना,
यह ज्वार, यह प्लवन,
यह प्यार, यह अह्रुव उमडना—
सब तुम्हे दिया ।[1]

वस्तुत ग्रहण और दान की यह प्रक्रिया ही अज्ञेय की जीवन-साधना है बल्कि यूँ कहे कि कवि के लिए जिस प्रकार कविता आनन्द-साधना है उसी प्रकार व्यक्ति के लिए जीवन आनन्द-साधना है। काव्य ही की तरह जीवन में भी यह आनन्द-लाभ किसी भी अनुभूति से उद्भूत या पुष्ट हो सकती है ·

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो
जीवन का रस लो देह-मन-आत्मा की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो।
जरा है भुजा तितीर्षा की मत बनो बाधा
जिजीविषु को तर जाने दो।
आसक्ति नही आनन्द है सम्पूर्ण व्यक्ति की
अभिव्यक्ति ·

---

१ आँगन के पार द्वार, पृ० १५-१७

मर म किन्तु मुझे घापित यह कर जाने दो।[1]

अपने उपन्यास 'नदी के द्वीप' में भी प्रमुख चरित्र रेखा के माध्यम से अज्ञेय यही कहते हैं 'आनन्द अनुभूति में नहीं है, किसी अनुभूति में नहीं आनन्द मन की एक प्रवृत्ति है, जो सभी अनुभूतियों के बीच बनी रह सकती है।'[2] लेकिन यह प्रवृत्ति तभी बनी रह सकती है जब न तो मृत्यु का भय हो और न जीवन के प्रति मोह या आसक्ति क्योंकि तब भय भी होगा ही वरन् मरण का ज्ञान जीवन-बोध को और भी पुष्ट करता है

मरणधर्मा है सभी कुछ

किन्तु फिर भी बहो

मीठी हवा

जीवन की पिपासा को

तुम्ही तो तीव्र करती हो।[3]

वस्तुत मरण का ज्ञान होते हुए भी यह जिजीविषु किन्तु अनासक्त भाव ही सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए व्यक्ति में यह कलन्दराना बोध जगा सकता है

मैं मरूँगा सुखी

क्योंकि तुमने जो जीवन दिया था—

उससे मैं निर्विकल्प खेला हूँ

खुले हाथों मैंने उसे वारा है

धज्जियाँ उड़ाई हैं

मैं मरूँगा सुखी

मैंने जीवन की धज्जियाँ उड़ाई है।[4]

अज्ञेय की कविता जीवन से कितनी सपृक्त है—यह इस बात का प्रमाण है क्योंकि उनका जीवन का भी वही आदर्श है जो कविता का है। वास्तव

---

१ बावरा अहेरी पृ० ६१

२ नदी के द्वीप पृ० ३३०

३ बावरा अहेरी पृ० ५८

४ पूर्वा पृ० १६५

में इसी स्थल पर संस्कृति की ओट मे जीवन और कला का सम्बन्ध स्पष्ट होता है। संस्कृति का आदर्श ही जीवन का आदर्श है और वह आदर्श ही कला का हो सकता है। इसे प्रकारान्तर से देखा जाए तो लगेगा कि जिस प्रकार संस्कृति का व्यापक आदर्श व्यष्टि का होकर वैयक्तिक और विशिष्ट हो जाता है वैसा ही कला मे भी है क्योकि कला का क्षेत्र भी अनुभूति की अद्वितीयता और विशिष्टता है। अत यह आकस्मिक नही है कि 'प्रामाणिक अनुभूति' के कवि अज्ञेय जीवन के क्षेत्र मे भी समस्त शास्त्र-ज्ञान से अधिक महत्ता प्रामाणिक अनुभव को—और इस प्रकार प्रामाणिक जीवन को—देते है

अच्छे अनुभव की भट्ठी मे तपे हुए कण-दो कण
अन्तर्दृष्टि के,
झूठे नुसखे वाद रूढि, उपलब्धि परायी के प्रकाश से
रूप-शिव, रूप-सत्य की सृष्टि के।

'सार्थक मौन' को अर्थहीन मधुर छन्द से, तथा निर्धन दानी के उधडे उर्वर दुख को 'धनी सूम के धुआँ घुटे आनन्द से' श्रेय समझने वाले कवि अज्ञेय इस प्रकार उन्मुक्त, सहज एव प्रामाणिक स्तर पर जिए जा रहे जीवन को ही सार्थक मानते हे क्योकि संस्कृति भी वही है। स्थितिवश व्यापक सत्य न भी मिले तो क्या मृषा की अपेक्षा खडित सत्य ही स्पृहणीय नही है

अच्छा
खडित सत्य
सुघर नीरन्ध्र मृषा मे,
अच्छा पीडित प्यार सहिष्णु
अकम्पित निर्ममता से।

अच्छी कुण्ठारहित ईकाई
साँचे ढले समाज से
अच्छा, अपना ठाठ फकीरी
मँगनी के सुख-साज से।[1]

---

१ अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १६-१७

और तभी उस सौन्दर्यमय एव सर्जनात्मक जीवन का उद्भव हो सकता है जिसकी कामना अज्ञेय करते हैं

अंधेरी रात
जागा शिशु की तरह मुस्करा उठे
दिन
हो एक आलोकद्वार जिसमें मुझे जाना है
(समय मेरा रथ और उल्लास मेरा घोड़ा)
मेरा जीवन—
घास की पत्ती से झूलती हुई यह अजानी ओस बूंद—
सूर्य की पहली किरण से जगमगा उठे और स्वय
किरणें विकीरित करने लगे।

मेरा श्रम
मेरे गले का जुआ नहीं
वह जोती हुई भूमि बन जाए
जिसमें मुझे
नया बीज बोना है।[1]

---

१ बावरा अहेरी पृ ३६

अनुभूति का भाषिक रूपान्तरण

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे सवसे अधिक घपला कविता के प्रतिमानो को लेकर है और इस सम्वन्ध मे इतने अधिक मत-मतान्तर है कि किसी भी श्रेष्ठ कवि को किसी एक तत्त्व के आधार पर साधारण या अमहत्त्वपूर्ण करार दिया जा सकता है क्योकि आलोचक काव्य मे उस तत्त्व का विरोधी होता है—फिर चाहे कितनी ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धिया कवि की रही हो। दूसरी ओर, यह भी होता है कि किसी साधारण या मीडियाकर कवि को किसी एक ही तत्त्व के आधार पर कम-अज-कम युग-प्रवर्तक तो घोषित कर ही दिया जाता है—यह दीगर वात है कि अन्य कोई गुण उसके काव्य मे दूर तक भी न दिखाई दे। यही कारण है कि कही मात्र रस के आधार पर कवि को परखने की वात कही जाती है तो कही ध्वनि के आधार पर। कुछ लोग 'नयी कविता के प्रतिमान' खोजते है (जैसे पहले की कविता से उनका अनिवार्य विरोध रहा हो) तो कुछ 'कविता के नये प्रतिमान' (चाहे इस शीर्षक के तले जो रखा जाए वह सभी पारम्परिक ही हो)। एक ओर 'विम्व' को कविता की एक-मात्र कसौटी माना जाता है तो दूसरी ओर 'सपाटवयानी' को—यह और वात है कि 'सपाटवयानी' शब्द स्वय विम्वात्मक है। और सवसे दिलचस्प वात यह है कि सभी खेमों के पास 'अपने-अपने कवि' है। कुछ आलोचक गण तो अपने मित्र कवियों के कृतित्व के आधार पर मूल्याकन के अपने प्रतिमान भी वदलते रहते है—देश की दल-वदलू राजनीति के समानान्तर। एक स्वनामधन्य आलोचक कुछ वर्षों पहले 'विम्व' का गुणगान करते थे क्योकि उनके मित्र-कवि विम्व को

कविता का अनिवार्य गुण मानते थे—अब वे 'सपाटबयानी के चक्कर में' हैं क्योंकि कवि मित्र ने पथ बदल लिया है। 'फंटेसी' के कवि मुक्तिबोध भी जब हिन्दी के आलोचकों को 'सपाटबयानी' के कवि लगें (जब कि कुछ दिन पहले उनकी कविताएं गद्यात्मक लगती थीं) तो संदेह उनकी नीयत पर किया जाए या समझ पर ? बहरहाल इस स्थल पर यह चर्चा अधिक उपयोगी नहीं। इसका प्रयोजन यहां सिर्फ इतना ही है कि इस प्रकार एकांगी आधार पर किसी कवि या काव्य धारा का मूल्यांकन साहित्य के सम्यक् विकास में बाधक ही है—और यदि साहित्यकार की सृजनशील प्रतिभा के आगे वह बाधा न भी रह पाए तो भी सम्यक् मूल्यांकन में तो बाधा है ही। किसी कवि में कोई गुण प्रधान हो सकता है और इसे उसकी विशेषता के रूप में स्वीकार भी किया जा सकता है पर सिर्फ उसी के आधार पर उस कवि के कृतित्व का ही नहीं, सम्पूर्ण काव्य की परख कहां तक संगत कही जा सकती है ? 'उपमा कालिदासस्य' का अर्थ यह तो नहीं लगाया जा सकता कि कालिदास के साहित्य में उपमा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, कि कालिदास उपमा ही के कारण महान् कवि हो सके या कि उपमा ही साहित्य के मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी है। इसी वजन पर यदि 'बिम्ब शमशेरस्य' या 'बिम्ब केदारस्य' कहा जाए तो यह नहीं माना जाएगा कि बिम्ब के अतिरिक्त शमशेर या केदारनाथसिंह के काव्य में कोई गुण नहीं। यही बात सपाटबयानी रघुवीरस्य के प्रसंग में कही जा सकती है। वस्तुतः इस प्रकार के सभी दृष्टिकोण पूर्वाग्रहपूर्ण होंगे। ऐसे किसी भी प्रतिमान को लेकर किया गया मूल्यांकन एकांगी ही हो सकेगा। स्थानानुकूल होने पर सीधी-सादी पंक्तियां भी काव्यात्मक गरिमा प्राप्त कर लेती हैं और प्रसंगच्युत होने पर सुंदरतम बिम्ब भी मात्र चित्र काव्य ही रह पाता है। दूसरी तरह से देखा जाए तो जिस प्रकार सपाटबयानी अनुभव को यथावत् रखना चाहती है—उसी प्रकार कुछ जटिल अथवा संश्लिष्ट अनुभूति को यथावत् रखना ही बिम्ब का प्रयोजन है। वस्तुतः कविता भाषा की कला है और बिम्बात्मकता, सपाटबयानी आदि सभी भाषा के ही गुण हैं। इसीलिए इन गुणों के विश्लेषण से ही हम जान सकते हैं कि अपने माध्यम का उपयोग कवि ने सृजनशीलता और मौलिकता के किस विशिष्ट स्तर पर किया है। अतः भाषा की

सृजनशीलता इसीमे है कि जहाँ अनुभूति की विशिष्टता अभिव्यक्त स्तर पर भी बनी रहे, वही स्वय अभिव्यक्ति भी मौलिक एव सहज ही हो। सहजता से हमारा तात्पर्य सरलता नही है।

भाषा की ही तरह छन्द, लय आदि के क्षेत्र मे भी विवाद की काफी गुजाइश है लेकिन आजकल इनपर विवाद कुछ कम हुआ है। माना जाने लगा है कि छान्दिकता कविता के लिए आवश्यक नही है—यद्यपि उसका होना अनिवार्य तौर पर काव्य का दुर्गुण नही है। जहाँ तक लय का प्रश्न है, अधिकाश आलोचक उसकी अनिवार्यता मानते है—उसका आधार एव स्वरूप कुछ भिन्न हो सकता है।

अज्ञेय आज हिन्दी के उन गिने-चुने कलाकारो मे है जो मौलिक प्रतिभा से युक्त होते हुए भी परम्परा से नही कटते। नयेपन के चक्कर मे जडविहीन नही होते क्योकि वे जानते है कि मौलिकता आकाश से नही टपकती— वह विकास मे ही अर्तानिहित होती है। अत. इसक्षेत्रमे वे किसी आन्दोलन या वाद से सम्वन्धित नही। वे न तो विम्ववादी है, न प्रतीक-वादी, न शास्त्रीय अर्थ मे उन्हे रसवादी या ध्वनिवादी ही कहा जा सकता है। अज्ञेय हिन्दी के उन कतिपय लेखको मे अग्रणी है जिन्होने काव्य-भाषा के स्वरूप एव विकास पर—विशेपत आधुनिक सन्दर्भ मे—गहरा एव मौलिक चिन्तन किया है। किन्तु अपने इस चिन्तन मे भी वे किसी वाद से वद्ध नही होते। नये शब्द की खोज व शब्द का नया सस्कार उनके लिए श्रेय भी है और प्रेय भी, पर इस प्रक्रिया मे शब्द-धातु की अवहेलना भी उन्हे सगत नही लगती। भाषा के सम्बन्ध मे वे तथाकथित शुद्धिवादी नहीं है पर सन्दर्भच्युत या अनावश्यक मिश्र भाषा का प्रयोग उन्हे रुचिकर नही। वैसे तो वाद के आग्रही आलोचको ने उन्हे प्रयोगवादी कहा है पर इस सम्वन्ध मे पहले ही काफी चर्चा हो चुकी है, अतः यहाँ इस प्रसग का विस्तार अपेक्षित नही।

श्री विजयदेवनारायण साही ने अपने महत्त्वपूर्ण निवन्ध 'लघु मानव के वहाने हिन्दी कविता पर एक वहस' मे प्रसाद और अज्ञेय की समानता का विवेचन करते हुए कहा है: "इस प्रकार कामायनी मे जो अनुभूति दर्शन मे परिवर्तित हो जाती है, उसे अज्ञेय फिर दर्शन से अनुभूति मे

परिवर्तित करते हैं।'[1] वास्तव में यह कथन सरलीकरण दोष से युक्त है। अनुभूति का दर्शन में परिवर्तित होना 'भाव का रूप ग्रहण' नहीं 'भाव का अमूर्तीकरण' ही हो सकता है जबकि साधारणतया प्रसाद के साथ ऐसा नहीं है। आनन्दवादी दर्शन के आधार पर यदि उन्होंने कामायनी की रचना की भी है तो इसका तात्पर्य यही होगा कि वहाँ दर्शन ही अनुभूति में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में है। इस दूसरे रूप में देखा जाए तो भी यही बात अधिक उचित सिद्ध होगी। सूक्ष्म मानसिक भावों का ऐन्द्रिक अनुभूति के स्तर पर प्रस्तुतीकरण प्रसाद सदैव करते रहे हैं। बिम्बमात्र नयी कविता की ही थाती नहीं, छायावाद और विशेषतः प्रसाद में भी बिम्ब सर्जना हुई है। बिम्ब को परिभाषित करने के प्रयास में दिया गया नाम Ideograph ही यह स्पष्ट कर देता है कि यहाँ दर्शन ही अनुभूति में परिवर्तित भले हो—उल्टा तो नहीं ही होता। कामायनी का दर्शन कथा वस्तु से सहज स्फूर्त नहीं है वरन् कथा-वस्तु को ही प्रसाद जी ने अपने दर्शन के अनुकूल मोड़ा है अन्यथा श्रद्धा का पुत्र इड़ा के साथ क्या रहता?

इसी प्रकार यह कहना भी सरलीकरण होगा कि अज्ञेय दर्शन को अनुभूति में परिवर्तित करते हैं। वस्तुतः कलाकार जीवनानुभूति को ही कलानुभूति में परिवर्तित करता है। इस प्रक्रिया में कवि की संवेदना का भी योग रहता ही है जो किसी दर्शन से भी प्रभावित हो सकती है। कुछ कवियों में यह दार्शनिक गरिमा विशेष होती है। इस दृष्टि से अज्ञेय एक विचारक कवि है। इस संबंध में टी० एस० ईलियट के विचार द्रष्टव्य हैं जो उन्होंने कविता और दर्शन शीर्षक के अन्तर्गत व्यक्त किए हैं 'जो कवि चिन्तन करता है वह वास्तव में वही कवि है जो विचार के समान स्तर के भाव को अभिव्यक्त कर सकता है। सूक्ष्म भाव को अभिव्यक्त करने में भी उतनी ही बौद्धिक क्षमता अनिवार्य है जितनी सूक्ष्म विचार को अभिव्यक्त करने में। इसी संबंध में आगे चलकर वे कहते हैं सभी महान् कविता एक जीवन-दृष्टि की प्रतीति करवाती है। जब हम होमर या सोफोक्लीज या वर्जिल या दान्ते या शेक्सपियर के संसार में प्रविष्ट होते हैं हम यह विश्वास करने को प्रवृत्त होते हैं कि हम उस वस्तु का बोध कर रहे हैं जिसे बौद्धिक रूप में ही अभिव्यक्त किया जा सकता है क्योंकि

---

1 नया प्रतीक अंक ६६ पृ० १२

प्रत्येक सूक्ष्म भावना वौद्धिक रूपाकार की ओर प्रवृत्त होती है।"[1] लेकिन वौद्धिक रूपाकार का तात्पर्य यहाँ अभिधात्मक वक्तव्य नही है क्योकि वह तो कविता ही नही हो सकता। वस्तुत अनुभूति स्वय ही सूक्ष्मता के आग्रह के कारण वौद्धिक रूप ले लेती है और इस प्रकार उसका निर्वैयक्तीकरण हो रहा होता है। यह 'निर्वैयक्तीकरण' अज्ञेय मे हमको सदैव मिलता है और यही कारण है कि उनकी कविताए हमे एक व्यापक एव गहरे सत्य से परिचित करवाती है। यही कवि की वौद्धिकता है। निर्वैयक्तीकरण की यह प्रक्रिया ही अज्ञेय से उन कविताओ की रचना करवाती है जिनमे सूक्ष्मता भी है और तज्जन्य वौद्धिकता भी ·

होने और न होने की सीमा-रेखा पर सदा वने रहने का
आसिधारव्रत जिसने ठाना— सहज ठन गया जिससे—
वही जिया। पा गया अर्थ।

वार-वार जो जिये-मरे
यह नही कि वे सव
वार-वार तरवार घाट पर
पीते रहे नये अर्थो का पानी

अर्थ एक है। मिलता है—तो एक वार · (गुड सा गूँगे को !)
और उसे दोहराना
दोहरे भ्रम मे वह जाना है।[2]

क्रियाओ के भूतकालिक प्रयोगो—'ठन गया', 'वही जिया', 'पा गया' आदि के कारण यह कविता सूक्ति-पद्धति के निकट रहते हुए भी अनुभूति से उपजने का प्रभाव देती है। कवि के चिन्तन से यही तात्पर्य है। कवि के लिए विचार भी अनुभूति रूप मे ही आता है—जीवन के अन्य अनुभवो के साथ-साथ और वह उन सभी के योग मे कलानुभूति की सृष्टि करता है।

---

1 T. S Eliot; Selected Prose, P 53.

२ अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १५२

परिवर्तित करते है।[1] वास्तव म यह कथन सरलीकरण दाप से युक्त है। अनुभूति का दशन मपरिवर्तित हाना 'भाव का रूप ग्रहण' नही, 'भाव का अमूर्तीकरण ही हो सकता है जब कि साधारणतया प्रसादके साथ एमा नही है। आनन्दवादी दशन के आधार पर यदि उन्हान कामायनी की रचना की भी है तो इसका तात्पय यही होगा कि वहा दशन ही अनुभूति म परिवर्तित होने की प्रक्रिया म है। इस दूसरे रूप म देखा जाए ता भी यही बात अधिक उचित सिद्ध होगी। सूक्ष्म मानसिक भावा का एद्रिक अनुभूति के स्तर पर प्रस्तुतीकरण प्रसाद सदैव करत रह है। बिम्बमात्र नयी कविता की ही थाती नही छायावाद और विशेषत प्रसाद म भी बिम्ब सजना हुई है। बिम्ब का परिभाषित करन के प्रयास म दिया गया नाम Ideograph ही यह स्पष्ट कर देता है कि यहा दशन ही अनुभूति म परिवर्तित भले हो—उल्टा ता नही ही हाता। कामायनी का दशन कथा वस्तु से सहज स्फूत नही है वरन् कथा वस्तु को ही प्रसाद जी ने अपने दशन के अनुकूल मोडा है अयथा श्रद्धा का पुत्र इडा के साथ क्या रहता ?

इसी प्रकार यह कहना भी सरलीकरण होगा कि अज्ञेय दशन को अनुभूति म परिवर्तित करत है। वस्तुत कलाकार जीवनानुभूति को ही कलानुभूति म परिवर्ति करता है। इस प्रक्रिया म कवि की सवेदना का भी याग रहता ही है जो किसी दशन से भी प्रभावित हा सकती है। कुछ कवियो म यह दाशनिक गरिमा विशेष होता है। इस दष्टि से अज्ञेय एक विचारक कवि ह। इस सबध म टी० एस० इलियट के विचार द्रष्टव्य है जो उन्होंने कविता और दशन शीषक के अन्तगत व्यक्त किए हैं 'जो कवि चिन्तन करता है वह वास्तव म वसा कवि है जो विचार के समान स्तर के भाव को अभिव्यक्त कर सकता है। सूक्ष्म भाव को अभिव्यक्त करने म भी उतनी ही बौद्धिक क्षमता अनिवाय है जितनी सूक्ष्म विचार को अभिव्यक्त करने म। इसी सबध म आग चलकर वे कहत है सभी महान् कविता एक जीवन दष्टि की प्रतीति करवाती है। जब हम हामर, या साफोक्लीज या वरजिल या दान्ते या शक्सपियर क ससार म प्रविष्ट हाने हैं हम यह विश्वास करन का प्रवत्त हात हैं कि हम उस वस्तु का बाध कर रहे है जिसे बौद्धिक रूप म ही अभिव्यक्त किया जा सकता है क्योकि

[1] नयी कविता अक ५ ६ प १२०

प्रत्येक सूक्ष्म भावना वौद्धिक रूपाकार की ओर प्रवृत्त होती है।"[1] लेकिन वौद्धिक रूपाकार का तात्पर्य यहाँ अभिधात्मक वक्तव्य नही है क्योकि वह तो कविता ही नही हो सकता। वस्तुत. अनुभूति स्वय ही सूक्ष्मता के आग्रह के कारण वौद्धिक रूप ले लेती है और इस प्रकार उसका निर्वैयक्तीकरण हो रहा होता है। यह 'निर्वैयक्तीकरण' अज्ञेय मे हमको सदैव मिलता है और यही कारण है कि उनकी कविताए हमे एक व्यापक एव गहरे सत्य से परिचित करवाती है। यही कवि की वौद्धिकता है। निर्वैयक्तीकरण की यह प्रक्रिया ही अज्ञेय से उन कविताओ की रचना करवाती है जिनमे सूक्ष्मता भी है और तज्जन्य वौद्धिकता भी

होने और न होने की सीमा-रेखा पर सदा वने रहने का
आसिधारव्रत जिसने ठाना— सहज ठन गया जिससे—
वही जिया। पा गया अर्थ।

वार-वार जो जिये-मरे
यह नही कि वे सव
वार-वार तरवार घाट पर
पीते रहे नये अर्थो का पानी

अर्थ एक है। मिलता है—तो एक वार (गुड सा गूँगे को!)
और उसे दोहराना
दोहरे भ्रम मे वह जाना है।[2]

क्रियाओ के भूतकालिक प्रयोगो—'ठन गया', 'वही जिया', 'पा गया' आदि के कारण यह कविता सूक्ति-पद्धति के निकट रहते हुए भी अनुभूति से उपजने का प्रभाव देती है। कवि के चिन्तन से यही तात्पर्य है। कवि के लिए विचार भी अनुभूति रूप मे ही आता है—जीवन के अन्य अनुभवो के साथ-साथ और वह उन सभी के योग से कलानुभूति की सृष्टि करता है।

---

1 T. S Eliot, Selected Prose, P 53

२ अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १५२

ईलियट का कथन है "उनके लिए विचार अनुभव था वह उसकी संवेदना का परिष्कार करता था। जब एक कवि का मन अपने काय के लिए पूर्ण तया सज्जित होता है वह लगातार पृथक अनुभवों का विलयन करता रहता है, साधारण व्यक्ति का अनुभव अव्यवस्थित अनियंत्रित व खंडित होता है। वह प्रेम करता है या स्पिनोज़ा पढ़ता है और इन दोनों अनुभवों का न तो कोई पारस्परिक संबंध होता है न टाइपराइटर के शोर से या रसोई की गंध से, कवि के मन म ये अनुभव सदव नयी संपूर्णताओं की सृष्टि करते हैं।"[1] इसी कारण अज्ञेय-काव्य म विभिन्न अनुभवों को एक ही व्यापक सत्य से संबंधित करने के कई उदाहरण मिलते हैं। 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' का 'इतिहास की हवा' कविता इस प्रक्रिया का सफल उदाहरण है। विभिन्न अनुभवों का संगुम्फित रूप यहाँ प्रस्तुत है जिसे कवि ने एक व्यापक सत्य से जोड़कर दार्शनिक दीप्ति दी है। लेकिन जहाँ अज्ञेय ने विचार को सीधे अनुभूति रूप म प्रस्तुत करने का प्रयास किया है—वहाँ वे असफल ही रहे हैं। यही कारण है कि अज्ञेय की अधिकांश लंबी कविताएँ कई बार वक्तव्यात्मक अधिक लगती हैं। यह इस बात का भी प्रमाण है कि कवि दर्शन को अनुभूति म परिवर्तित नहीं करता—दर्शन उसकी संवेदना के रचाव म रहता है और इस प्रकार अनुभूति स्वयं ही दार्शनिक गरिमा से मंडित होती है, इसके विपरीत स्थिति म कवि विचार या दर्शन को अपनी संवेदना से छूना चाहता है जिसम कई सांचे रहने लाजिमी हैं। अज्ञेय की कविता म ये सांचे कहीं नहीं मिलते—कुछ लंबी कविताओं को छोड़कर—जो कविता के स्तर पर निश्चित रूप से असफल हैं। हाँ अज्ञेय की विचारणा को जानने म वे अवश्य हमारी सहायता करती हैं। अपनी अपेक्षाकृत लंबी कविताओं म अज्ञेय द्वारा विभिन्न अनुभवों का प्रयोग कई बार व्हिटमैन की सूची शैली (*Cataloge style*) का स्मरण करवाता है किन्तु अज्ञेय उस रूप म सफल नहीं हो पाए हैं। इस सूची शैली का प्रयोग 'असाध्य वीणा' म भी है लेकिन वहाँ कथा-तत्व के कारण कवि उन सभी अनुभवों को जोड़ने म सफल हो गया है और इसी कारण 'असाध्य वीणा' म अज्ञेय का विन्यास-कौशल भी झलकता है। लंबी एवं विभिन्न अनुभवों से बुनी होने पर भी संरचनात्मक अन्विति के स्थापन का दावा इस कविता म नहीं

1 टी० एस० ईलियट सेलेक्टेड प्रोज पृ० ११०

है। वैसे यह संरचनात्मक अन्विति अज्ञेय की प्रमुख विशेषता है जिसका कारण सभवत. यह भी रहा हो कि वे मूलतः 'लघुकविता' के कवि है। यह स्वय उनकी भी मान्यता रही है· "छोटी कविता को महत्त्व भी देता हूँ। 'नावक के तीर' वाली वात ही नही है, यो भी मै मानता हूँ कि भावना-प्रधान कविता छोटी ही हो सकती है, नही तो अपने भावो का पैराफ्रेज़ होने लगता है। 'जो घनीभूत पीडा थी मस्तक मे स्मृति-सी छायी' वह एक आँसू वनकर आए यहाँ तक तो ठीक है; किन्तु जव वरसात की झडी-सी वरसने लगती है तव वह शायद वही पडी नही रहती और घनीभूत तो भला रह ही कैसे सकती है! लवी कविताएँ भी होती हैं, हो मकती है, अच्छी भी हुई है, पर उनको कलात्मक एकता और गठन देने वाली चीज़ फिर दूसरी ही हो जाती है—भाव की सहति और तीव्रता नही। वह ढग दूसरा है और कहूँ कि मेरा नही है।"[1] और स्वय अज्ञेय-काव्य की यह विशेषता है कि वहाँ 'घनीभूत पीडा' एक बूँद मे ही अन्तर्निहित होकर आती है इसकी परख उनकी कविता की भाषिक सरचना के आधार पर की जा सकती है।

वास्तव मे भाषा ही एकमात्र माध्यम है जिसके द्वारा हम कवि की अनुभूति की गहराई और मौलिकता तक पहुच पाते है। काव्यानुभूति भाषिक स्वरूप ही मे हमारे सामने प्रस्तुत होती है—वल्कि स्वय कवि भी भाषा के माध्यम से ही अनुभूति की सही पहचान कर पाता है। इसलिए अज्ञेय का यह मत असगत नही लगता . "काव्य सवसे पहले शव्द है। और सवसे अन्त मे भी यही वात वच जाती है कि काव्य शव्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शव्द का ज्ञान, शव्द की अर्थवत्ता की सही पकड ही कृतिकार को कृती वनाती है। ध्वनि, लय, छन्द आदि के सभी प्रश्न इसीमे से निकलते है और इसीमे विलय होते हैं। इतना ही नही सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यही से निकलते है : इसीमे युग-संपृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिल सकता है।"[2] इस प्रकार अज्ञेय की यह मान्यता स्पष्ट है कि मौलिक कला के सृजन के लिए शव्द का मौलिक अर्थ मे प्रयोग करना आवश्यक है और सिर्फ

१ आत्मनेपद, पृ० ३१

२ तारसप्तक, पृ० ३०६

ईलियट का कथन है "उनके लिए विचार अनुभव था वह उसकी संवेदना का परिष्कार करता था। जब एक कवि का मन अपने काय के लिए पूर्ण तया सज्जित होता है वह लगातार पृथक अनुभवो का विलयन करता रहता है, साधारण व्यक्ति का अनुभव अव्यवस्थित अनियमित व खंडित होता है। वह प्रेम करता है या स्पिनोजा पढता है और इन दोनो अनुभवो का न तो कोई पारस्परिक संबंध होता है न टाइपराइटर के शोर से या रसोई की गध से, कवि के मन म ये अनुभव सदव नयी संपूर्णताओ की सृष्टि करते हैं।'[1] इसी कारण अज्ञेय काव्य म विभिन्न अनुभवो को एक ही व्यापक सत्य से संबधित करने के कई उदाहरण मिलते हैं। 'इन्द्रधनु रौंदे हुए य को इतिहास की हवा' कविता इस प्रक्रिया का सफल उदाहरण है। विभिन्न अनुभवो का सगुम्फित रूप यहाँ प्रस्तुत है जिसे कवि ने एक व्यापक सत्य से जोडकर दाशनिक दीप्ति दी है। लेकिन जहाँ अज्ञेय ने विचार को सीधे अनुभूति रूप म प्रस्तुत करने का प्रयास किया है—वहा वे असफल ही रहे हैं। यही कारण है कि अज्ञेय की अधिकाश लबी कविताएँ कई बार वक्तव्यात्मक अधिक लगती हैं। यह इस बात का भी प्रमाण है कि कवि दशन को अनुभूति म परिवर्तित नही करता—दशन उसकी संवेदना में रचाव म रहता है और इस प्रकार अनुभूति स्वय ही दाशनिक गरिमा से मंडित होती है, इसके विपरीत स्थिति म कवि विचार या दशन को अपनी संवेदना से छूना चाहता है जिसम कई खाँचे रहने लाजिमी है। अज्ञेय की कविता म ये खाचे कही नही मिलते—कुछ लबी कविताओ को छोडकर—जो कविता के स्तर पर निश्चित रूप से असफल है हाँ अज्ञेय की विचारणा को जानने म वे अवश्य हमारी सहायता करती हैं। अपनी अपेक्षाकृत लबी कविताओ मे अज्ञेय द्वारा विभिन्न अनुभवो का प्रयोग कई बार ह्विटमन की सूची शली (Cataloge style) का स्मरण करवाता है किन्तु अज्ञेय उस रूप म सफल नही हो पाए है। इस सूची शैली का प्रयोग 'असाध्य वीणा' मे भी है लेकिन वहाँ कथा-तत्त्व के कारण कवि इन सभी अनुभवो को जोडने म सफल हो गया है और इसी कारण 'असाध्य वीणा म अज्ञेय का विन्यास-कौशल भी झलकता है। लबे एव विभिन्न अनुभवो से बुनी होने पर भी सरचनात्मक अन्विति के स्खलन का दोष इस कविता म नही

---

१ टी एस० ईलियट सेलेक्टेड प्रोज, पृ० ११७

है। वैसे यह संरचनात्मक अन्विति अज्ञेय की प्रमुख विशेपता है जिसका कारण सभवतः यह भी रहा हो कि वे मूलत. 'लघुकविता' के कवि है। यह स्वय उनकी भी मान्यता रही है "छोटी कविता को महत्त्व भी देता हूँ। 'नावक के तीर' वाली वात ही नही है, यो भी मै मानता हूँ कि भावना-प्रधान कविता छोटी ही हो सकती है, नही तो अपने भावो का पैराफ्रेज होने लगता है। 'जो घनीभूत पीडा थी मस्तक मे स्मृति-सी छायी' वह एक आँसू वनकर आए यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु जव वरसात की झडी-सी वरसने लगती है तव वह शायद वही पडी नही रहती और घनीभूत तो भला रह ही कैसे सकती है! लवी कविताएँ भी होती है, हो सकती है, अच्छी भी हुई है, पर उनको कलात्मक एकता और गठन देने वाली चीज फिर दूसरी ही हो जाती है—भाव की सहति और तीव्रता नही। वह ढंग दूसरा है और कहूँ कि मेरा नही है।"[1] और स्वय अज्ञेय-काव्य की यह विशेपता है कि वहाँ 'घनीभूत पीडा' एक वूँद मे ही अन्तर्निहित होकर आती है इसकी परख उनकी कविता की भाषिक सरचना के आधार पर की जा सकती है।

वास्तव मे भाषा ही एकमात्र माध्यम है जिसके द्वारा हम कवि की अनुभूति की गहराई और मौलिकता तक पहुंच पाते है। काव्यानुभूति भाषिक स्वरूप ही मे हमारे सामने प्रस्तुत होती है—वल्कि स्वय कवि भी भापा के माध्यम से ही अनुभूति की सही पहचान कर पाता है। इसलिए अज्ञेय का यह मत असगत नही लगता . "काव्य सवसे पहले शव्द है। और सवसे अन्त मे भी यही वात वच जाती है कि काव्य शव्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभापा से निःसृत होते है। शव्द का ज्ञान, शव्द की अर्थवत्ता की सही पकड ही कृतिकार को कृती वनाती है। ध्वनि, लय, छन्द आदि के सभी प्रश्न इसीमे से निकलते है और इसीमे विलय होते है। इतना ही नही सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यही से निकलते है . इसीमे युग-सपृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिल सकता है।"[2] इस प्रकार अज्ञेय की यह मान्यता स्पष्ट है कि मौलिक कला के सृजन के लिए शव्द का मौलिक अर्थ मे प्रयोग करना आवश्यक है और सिर्फ

१ आत्मनेपद, पृ० ३१

२ तारसप्तक, पृ० ३०६

मौलिक ही क्या—ध्वनि लय, छन्द आदि के सभी कवि-कर्म उसके द्वारा मौलिक स्तर पर ही होते हैं क्योंकि काव्य म इन प्रश्नों का सम्बन्ध भी शब्द स ही है। इस प्रकार भाषा ही हमारे पास एकमात्र कसौटी है जिसके आधार पर किसी कृति की परख हो सकती है। और भाषा या शब्द को दिया गया यह नया संस्कार ही वस्तुत भाषा की सृजनशीलता है। इस विवेचन स एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि भाषा का अनुभूति स अलग नहीं किया जा सकता बल्कि हमारे समक्ष तो कविता रूप म जो कुछ प्रस्तुत होता है वह भाषा के माध्यम स अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं वरन् अनुभूति का भाषा म रूपान्तरण है। यही कारण है कि भाषा की कमजोरी असमर्थ कवि मानस की ओर संकेत करती है। एक ही शब्द का प्रयोग जब दो कवि करते हैं और उनम स एक सफल नहीं हो पाता तो वह शब्द की नहीं कवि की असमर्थता है कि उस शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ नहीं है। इसी कारण जब अज्ञेय कहते हैं कि शब्द ही कवि के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल प्रस्तुत करते है तो व अनुचित नहीं कहते क्योंकि शब्द की अर्थवत्ता की खोज म शब्द की एतिहासिक और अर्थ की सामाजिक परख दोनों निहित है और अर्थवान् शब्द का सवेदन (सप्रेषण) हो ही नहीं सकता बिना युग-सपृक्ति के। जो कवि शब्द के संस्कार के प्रति सजग नहीं है (और जस जीव का हर कर्म उसके संस्कार को बदलता है वस ही शब्द का प्रत्येक उपयोग उसे नया संस्कार देता है) वह अर्थवान् शब्द का साधक नहीं है और मैं कहूँगा कि वह कवि नहीं है न होगा।[1] यहाँ यह भी स्पष्ट कर द कि शब्द के प्रति असजगता कवि की सवेदना एव अनुभूति को भी अर्थहीन करती है क्योंकि वह शब्द के माध्यम ही स तो अनुभूति को पकड़ता है। इस प्रकार शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही स काव्यानुभूति की सही पकड़ है। यही कारण है कि भाषा का असजग प्रयोग कविता की सरचनात्मक अन्विति म बाधा उत्पन्न करता है और कविता संश्लिष्ट रचना है अत यह कभी कवि की अनुभूति एव सौन्दर्य-बोध को भी खडित करती है। भाषिक स्तर पर काव्य मे खाचे नहीं दिखाई देना इस बात का लक्षण है कि कविता म

---

१ तारसप्तक पृ० ३०६

अतरग स्तर पर भी खाचे नही है।

अज्ञेय शब्द के समर्थ साधक है, अत स्वाभाविक ही है कि उनकी कविता मे हमे ये खाचे प्राप्त नही होते। कम से कम शब्दो मे गहनतम व्यापक अर्थ को सप्रेषित करना अज्ञेय की अपनी विशिष्टता है। यह और कि इसमे उनकी कविता की सहजता भी कही समाप्त नही होती। यह स्वय अज्ञेय की मान्यता के भी अनुकूल है "सही भाषा जब सहज भाषा हो जाए तभी वह वास्तव मे सही है।"[1] इसी सहजता के साथ अपनी अनुभूति के भाषिक रूपान्तरण मे अज्ञेय सदैव सफल रहे है और इसी कारण कलात्मक अन्विति उनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। अज्ञेय की 'सोन-मछली' कविता इस कथन का सुन्दरतम उदाहरण है

हम निहारते रूप
काँच के पीछे
हाँफ रही है मछली

रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।[2]

पूरी कविता मे एक भी शब्द व्यर्थ या असगत नही जान पडता। वस्तुत. इस सक्षिप्तता के ही कारण इस कविता का अर्थ-गाभीर्य सुरक्षित रह सका है और स्पष्ट लगता है कि किसी भी अरिरिक्त शब्द का प्रयोग इसके तनाव को शिथिल कर देता। यह भी स्पष्ट है कि "कविता के अभीप्सित प्रभाव मे यहा बिम्ब सहायक ही है बल्कि इस बिम्ब के कारण ही कवि अपनी अनुभूति को मूर्त रूप मे उपस्थित कर सका है और इस प्रकार इस बात की पुष्टि भी होती है कि बिम्ब समर्थ कलाकार के हाथो महान कविता की गरिमा प्राप्त कर सकता है। अब अज्ञेय की एक ऐसी कविता का उदाहरण ले, जहा बिम्ब-विधान नही है पर न तो सरचनात्मक अन्विति का ही अभाव है और न अर्थ-गाभीर्य का स्खलन ही

---

१ आत्मनेपद, पृ० १४६
२ अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ८२

साँप,
तुम सभ्य तो हुए नही
नगर मे बसना
भी तुम्हे नही आया
एक बात पूछूँ—(उत्तर दोगे ?)
तब कैसे सीखा डँसना—
विष कहाँ पाया ?[1]

साधारण शब्दो द्वारा व्यग्य की यह असाधारण सर्जना समर्थ काव्य प्रतिभा का ही काम है। भाषा की साकेतिकता के ही कारण यह कविता अनुभूति की गहराई एव तीव्रता को अन्तर्निहित किए हुए है और एक बार पढने के बाद दुबारा पढने पर तो कविता का प्रत्येक शब्द तीखे व्यग्य की सृष्टि करता प्रतीत होता है। यही कारण है कि नगर बोध को लेकर लिखी गई अधिकाश कविताएँ इस कविता के आगे द्वितीय श्रेणी की लगती हैं। यह कविता इस बात का प्रमाण है कि बिम्ब विधान की सहायता के बिना भी अज्ञेय अभिधात्मक शब्दो मे असाधारण अर्थ भर सकते हैं। 'कला मित-व्ययिता का दूसरा नाम है' अज्ञेय की अधिकाश रचनाए इससे परे नही है।

उपर्युक्त दोनो कविताए बिम्बात्मकता या अबिम्बात्मकता का ही नही एक ही कवि मे भाषा के दो स्तरो का उद्घाटन भी करती हैं। वास्तव मे अनुभूति के भाषिक रूपान्तरण की प्रक्रिया मे स्वभावत ही भाषा भी तद-नुरूप आकार ही ग्रहण करती है—यही उसकी सर्जनशीलता है। अज्ञेय की सवेदना की तराश सवादात्मक होने का एक परिणाम यह भी हुआ है कि विविध प्रकार की स्थितिया अज्ञेय-काव्य मे उदघाटित होती है क्योकि यह सवादात्मक सवेदना विविध स्तरो पर उदघाटित होती है। अत स्वाभाविक ही है कि अज्ञेय-काव्य मे हमे भाषा के कई स्तर प्राप्त होते है बल्कि भाषा के ये कई रूप ही अज्ञेय-काव्य को एकरसता से बचाते है और इस बात का प्रमाण देते हैं कि अज्ञेय विविध अनुभवो के कवि रहे हैं यद्यपि उनके मूल मे वही सवादात्मक-सवेदना रही है। यही कारण है कि उनकी कविताओ मे लोक भाषा के शब्दो का अनवरत प्रयोग भी मिलता

---

[1] इन्द्रधनु रौंदे हुए ये पृ० २६

है और शुद्ध शब्दो की बहुलता भी। कही उनके शब्द कडुए यथार्थ से सपृक्त लगते है और कही भाषा के ही आधार पर उन्हे रोमाटिक कहा गया है। लेकिन वस्तुस्थिति यही है कि अज्ञेय अनुभूति के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग करते हैं। इसे कुछ उदाहरणो द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। लोक-भाषा के आधार पर अपनी काव्य-भाषा की निर्मिति अज्ञेय वस्तुत उन्ही स्थलो पर करते है जब कि उन्हे ग्राम-जीवन या लोक-जीवन से सबधित कोई बात करनी हो। 'बागर और खादर' कविता मे विशिष्ट एव लोकजन का भेद दिखाने के लिए वे लोक-भाषा के ही आधार पर अपना मुहावरा गढते है :

> खादर की नदी नही
> किसी की बपौती की
> पुरवे के हर घरवे को
> गंगा है अपनी कठौती की।[1]

यहा 'खादर', 'पुरवे', 'घरवे', 'कठौती' आदि शब्द ही स्पष्ट कर देते है कि कवि जो बात कहना चाहता है उसकी स्थिति कही ग्रामीण-जीवन मे है। इसीके विपरीत जब अज्ञेय महानगर का चित्र प्रस्तुत करते है तो वही बोलचाल की भाषा का प्रयोग करते हुए भी नगर-भाषा को ही अपनाते हैं। लोक-जीवन के शब्दो को नही .

> क्या ? ये खेल-तमाशे, ये सिनेमाघर, ये थियेटर ?
> रग-बिरगी बिजली द्वारा किए प्रचारित
> द्रव्य जिन्हे वह कभी नही जानेगा ?
> यह गलियो की नुक्कड-नुक्कड पर पक्के पेशाबघरो की सुविधा,
> ये कचरा-पेटियाँ सुघड़, रगीन (आह
> कचरे के लिए यहाँ कितना आकर्षण !) ?[2]

इस कविता मे अज्ञेय सिनेमाघर के लिए 'सनीमाघर' और थियेटर के लिए 'थेटर' शब्द का प्रयोग नही करते क्योकि ये शब्द तुरन्त हमे महानगर से दूर लोक-जीवन से सपृक्त कर देते है। इसी तरह प्रेमिका को

---

१ अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ४४

२ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० ५६

सम्बोधित करते समय अज्ञेय का स्वर रोमांटिक हो जाता है

तुम्हारी देह
मुझको कनक चम्पा की कली है
दूर ही से
स्मरण ही में गन्ध देती है।
(रूप स्पर्शातीत वह जिसकी लुनाई
कुहासे सी चेतना को मोह ले।)

तुम्हारे नैन
पहले भोर की दो ओस बूँदें हैं
अछूती ज्योतिमय
भीतर द्रवित।
(मानो विधाता के हृदय में
जग गयी हो भाप करुणा की अपरिमित।[1]

'स्मरण ही में गन्ध', लुनाई 'कुहासे सी चेतना को मोह ले' 'ओस-बूँद भाप करुणा की' आदि वाक्यांश भाषा की रोमांटिक बुनावट को प्रकट करते हैं। इससे अलग अध्यात्म बोध की कविताओं में भाषा का भी अलग ही स्वरूप देखने को मिलता है। प्रस्तुत उद्धरण में 'एक चिकना मौन' 'तपती वासनाएँ' 'दाह खोती', 'रवहीन' 'ऋत' 'विज्ञप्त' आदि शब्द स्वयं ही अध्यात्म बोध से सपृक्त हैं

एक चिकना मौन
जिसमें मुखर-तपती वासनाएँ
दाह खोती
लीन होती हैं।
उसी में रवहीन
तेरा
गूँजता है छन्द
ऋत विज्ञप्त होता है।[2]

---

1 बावरा अहेरी पृ० ३५
2 आँगन के पार द्वार पृ० ४३

स्पष्ट है कि उपर्युक्त चारो (या छहो) उद्धरणो की भाषा की मुद्रा अलग है जब कि ये सभी एक ही कवि की कविताए है। भाषा की मुद्रा की इस विविधता का कारण उसमे पूरित अनुभूति की मुद्रा ही है। इस दृष्टि से देखने पर तो अज्ञेय हमे और भी बडे कवि लगते है क्योकि भाषा के प्रति ऐसा खुलापन हमे कम ही कवियो मे मिलता है। निराला की जीवन्तता का एक कारण भाषा के प्रति यह खुलापन ही था। लेकिन यह खुलापन निराला ने बाद मे प्राप्त किया जब कि अज्ञेय इस ओर प्रारम्भ से ही सचेष्ट रहे।

भाषा के प्रति इस दृष्टि के ही कारण अज्ञेय कई स्थलो पर विभिन्न मिजाज के शब्दो का समन्वित प्रयोग भी कर जाते है और उनसे वाछित अर्थ सप्रेषित करने मे सफल हो पाते है। अलग मिजाज के इन शब्दो का प्रयोग एक ही सन्दर्भ मे भी स्थानानुकूल ही करते है और सभवत: यही कारण है कि अज्ञेय के इस प्रकार के प्रयोग भी हमे चौकाते नही, विस्मित करते है और कवि के प्रति आश्वस्त भी .

हाँ, विस्मय-विभोर
सब जैसे है, मैं भी हूँ
मनोरग मे मेरे भी वह आने वाली
धान-भरी बाली सोनाली
थिरक रही है . मैं भी आँचल
तब पसार दूँगा जब गूँजेगी उसकी पद-पायल,
मैं भी लूँगा बीन छीन
कण दो कण जो भी हाथ लगेगे
उस रसवन्ती की पुष्कल करुणा के ![1]

इस कविताश मे 'विस्मय-विभोर', 'मनोरग' और 'पुष्कल' आदि शब्दो को छोडकर सारी भाषा साधारण बातचीत की ही है—बल्कि 'बाली सोनाली', 'बीन छीन' आदि तो लोकभाषा के ही शब्द है। यह कवि की प्रतिभा ही है जो बिना-किसी असगति के इन शब्दो का प्रयोग वह एक साथ कर गया है—भाषागत कोई अनौचित्य हमे यहा नही दिखाई देता। एक और उदाहरण ले—

---

१ अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ५३-५४

वह तेजोमय है जहाँ,
दीठ बेबस झुक जाती है,
वाणी तो क्या सन्नाटे तक की गूज
वहा चुक जाती है ।
शीतलता उसकी एक छुअन भर स
सारे रोमाच शिलित कर देती है ।[1]

यहा यह द्रष्टव्य है कि तजोमय के साथ दीठ और बबस' शब्द का प्रयोग केवल सगत ही नही वरन अथपूण भी बन पडा है। यहा पर यदि इनके शुद्ध रूप 'दृष्टि' और विवश रखकर दखें तो न केवल लयात्मकता ही भग होती है वरन अनुभूति का स्वरूप भी कृत्रिम लगने लगता है । 'तेजोमय' के स्थान पर भी कोई दूसरा श द जस प्रभामय ज्योतिमय आदि तेज' शब्द म जा पौरुष का भाव है वह नही जगा पाता । इसी प्रकार हल्के स्पश का जो भाव छुअन शब्द म है उस अ य प्रकारसे व्यक्त नही किया जा सकता था। इसी वजन का एक श द परस भी है और उस प्रयोग स लयात्म कता भी भग नही होती, किन्तु परस शब्द का भाव रोमाटिक अधिक है और उसस अमूत द्वारा स्पश का आभास होता है जबकि छुअन शब्द मूत के स्पश का बोध अधिक करवाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि कम उपयुक्त शब्द का प्रयोग अपने अथ की सीमा तक अनुभूति का स्वरूप भी बदल सकता है और तब स्वभावत कविता के शेष अश व उस शब्द के बीच एक खाचा भासित होन लगता है। स्पष्टत खाचे वाली यह कविता श्रेष्ठ कविता नही कही जा सकती। इस प्रकार हम देखते है कि कवि की शब्द चेतना ही उसकी काव्य चेतना का प्रमाण प्रस्तुत करती है । अज्ञेय की कविता मे सामा यत एसे खाचो का न मिलना इसी तथ्य की ओर इगित करता है कि अज्ञेय की भाषिक चेतना अधिक सूक्ष्म गहरी एव व्यापक है ।

अज्ञेय की इस सूक्ष्म श द चेतना का प्रभाव उनके काव्य बिबो मे मिलता है । विशेषत उनके ध्वनि बिंब अत्यधिक सुन्दर बन पडे है जबकि कम समथ कवि अधिकाशत ध्वनि का बिंब म रूपान्तरित नही कर पाते—मात्र बिम्बाभास ही करवा पाते है । अज्ञेय की शब्द चेतना सूक्ष्मतर

1 आँगन के पार द्वार पृ २४

ध्वनियो को भी पकडती है तथा उसकी विशिष्टता की सही पहचान भी वहा है। इसी कारण वे 'सिची छत से ओसकी तिप्-तिप्' और 'पत्तियो पर वर्षा-बूदो की पट-पट' तथा 'चोर पैर द्रुत धावित जल पछी की चाप' और 'थाप दादुर की चकित छलागो की', का अन्तर समझ सकते है। 'नयी वधू की सहमी-सी पायल-ध्वनि', 'लगर पर कसमसा रही नौका पर लहरो की अविराम थपक', 'चमरौवे की रुँधी चाप'। 'कुलिया की कटी मेड से वहते जल की छुल-छुल', 'गड़रिए की अनमनी वासुरी', 'फेके हुए अखवार की सरसराहट', 'ग्वाले के कमण्डल की खडकन', आदि ध्वनि-विंव अज्ञेय-काव्य मे प्रचुरता से मिलते है। गति-विम्ब के प्रस्तुतीकरण मे भी अज्ञेय इतने ही कुशल है .

फेन-झालरदार मखमली चादर पर मचलती
किरण-अप्सराएँ भारहीन पैरो से थिरकी —

× × ×

हरियाली विछ गई तराई पर
घाटी की पगडडी
लजायी और ओट हुई—
पर चचला रह न सकी, फिर उझकी और झाँक गयी।
छरहरे पेड की नयी रगीली फुनगी
आकाश के भाल पर जय-तिलक आँक गयी।[1]

यही कारण है कि ध्वनि एव गति के समान्वित विम्व अज्ञेय की कविता मे वड़े सुन्दर वन पडे है। 'कुहरे मे छन कर आती पर्वती गाव के उत्सव-ढोलक की थाप', 'घरघराहट चट्टी वहिया की', 'रेतीले कगार का गिरना छपछडाप्', 'फुटकी की लहरिल उडान का मूक-गान की स्वर-लिपि-सा सझा के पट पर अक जाना, पंछी की तीखी कूक का फरहरे-मढे शल्य-सा आसमान पर कुछ टाकना' आदि अज्ञेय की विम्व-क्षमता का परिचय देते है। गति एवं ध्वनि के निम्नोक्त दो समन्वित विम्व कवि की विम्व-कल्प के श्रेष्ठ उदाहरण है

वधी लीक पर रेले लादे माल

1 आँगन के पार द्वार, पृ० १५

वह तेजोमय है जहां,
दीठ बेबस झुक जाती है,
वाणी ता क्या सन्नाटे तक की गूंज
वहा चुक जाती है।
शीतलता उसकी एक छुअन भर स
सारे रोमाच शिलित कर देती है।[1]

यहा यह द्रष्टव्य है कि 'तेजोमय' क साथ 'दीठ' और 'बेबस' शब्द का प्रयोग केवल सगत ही नही वरन अथपूण भी बन पडा है। यहा पर यदि इनके शुद्ध रूप 'दृष्टि और विवश' रखकर देखें तो न केवल लयात्मकता ही भग होती है वरन अनुभूति का स्वरूप भी कृत्रिम लगने लगता है। तेजोमय के स्थान पर भी कोई दूसरा शब्द जसे प्रभामय ज्योतिमय आदि, 'तेज' शब्द म जो पौरुष का भाव है, वह नहा जगा पाता। इसी प्रकार हल्के स्पश का जो भाव 'छुअन' शब्द म है उसे अन्य प्रकारसे व्यक्त नही किया जा सकता था। इसी वजन का एक शब्द 'परस' भी है और उस प्रयोग से लयात्मकता भी भग नही होती किन्तु 'परस' शब्द का भाव रोमाटिक अधिक है और उससे अमूत द्वारा स्पश का आभास होता है जबकि छुअन शब्द मूत के स्पश का बोध अधिक करवाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि कम उपयुक्त शब्द का प्रयोग अपने अथ की सीमा तक अनुभूति का स्वरूप भी बदल सकता है और तब स्वभावत कविता के शष अश व उस शब्द के बीच एक खाचा भासित हान लगता है। स्पष्टत खाचे वाली यह कविता श्रेष्ठ कविता नही कही जा सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की शब्द चेतना ही उसकी काव्य चेतना का प्रमाण प्रस्तुत करती है। अज्ञेय की कविता म सामान्यत एस खाचा का न मिलना इसी तथ्य की ओर इगित करता है कि अज्ञेय की भाषिक चेतना अधिक सूक्ष्म गहरा एव व्यापक है।

अज्ञेय की इस सूक्ष्म शब्द चेतना का प्रभाव उनके काव्य बिंबो म मिलता है। विशेषत उनके ध्वनि बिंब अत्यधिक सुन्दर बन पड़े हैं जबकि कम समथ कवि अधिकाशत ध्वनि को बिंब म रूपान्तरित नही कर पाते—मात्र बिम्बाभास ही करवा पाते हैं। अज्ञेय की शब्द चेतना सूक्ष्मतर

[1] आंगन के पार द्वार पृ ४४

ध्वनियो को भी पकडती है तथा उसकी विशिष्टता की सही पहचान भी वहा है। इसी कारण वे 'सिची छत से ओसकी तिप्-तिप्' और 'पत्तियो पर वर्षा-बूदो की पट-पट' तथा 'चोर पैर द्रुत धावित जल पछी की चाप' और 'थाप दादुर की चकित छलागो की', का अन्तर समझ सकते है। 'नयी वधू की सहमी-सी पायल-ध्वनि', 'लगर पर कसमसा रही नौका पर लहरो की अविराम थपक', 'चमरौधे की रुँधी चाप'। 'कुलिया की कटी मेड से वहते जल की छुल-छुल', 'गडरिए की अनमनी वासुरी', 'फेके हुए अखवार की सरसराहट', 'ग्वाले के कमण्डल की खडकन', आदि ध्वनि-विंव अज्ञेय-काव्य मे प्रचुरता से मिलते हे। गति-विम्व के प्रस्तुतीकरण मे भी अज्ञेय इतने ही कुशल है

फेन-झालरदार मखमली चादर पर मचलती
किरण-अप्सराएँ भारहीन पैरो से थिरकी —

× × ×

हरियाली विछ गई तराई पर
घाटी की पगडडी
लजायी और ओट हुई—
पर चचला रह न सकी, फिर उझकी और झाँक गयी।
छरहरे पेड की नयी रगीली फुनगी
आकाश के भाल पर जय-तिलक आँक गयी।[1]

यही कारण हे कि ध्वनि एव गति के समान्वित विम्व अज्ञेय की कविता मे वडे सुन्दर वन पडे है। 'कुहरे मे छन कर आती पर्वती गाव के उत्सव-ढोलक की थाप', 'घरघराहट चक्की वहिया की', 'रेतीले कगार का गिरना छपछडाप्', 'फुटकी की लहरिल उडान का मूक-गान की स्वर-लिपि-सा सझा के पट पर अक जाना, पछी की तीखी कूक का फरहरे-मढे शल्य-सा आसमान पर कुछ टाकना' आदि अज्ञेय की विम्व-क्षमता का परिचय देते है। गति एव ध्वनि के निम्नोक्त दो समन्वित विम्व कवि की विम्व-कल्प के श्रेष्ठ उदाहरण है

वधी लीक पर रेले लादे माल

1 आँगन के पार द्वार, पृ० १५

चिहुकती और रँभाती
अफराए डाँगर भी ठिनती
रनता जाती हैं ।[1]

इसी प्रकार घा॰ की टाप की ध्वनि में चट्टमुखी विस्तार म घिरे घुम्मवार के यन्त्रो का भाव अपनी ध्वनि एव गति के साथ इस बिम्ब म मूर्त हो जाता है

मेरे घोडे की टाप
चौखटा जडती जाती है
आगे के नदी व्योम घाटी पवत के आस पास
मैं एक चित्र म
लिखा गया सा आगे बढता जाता हू ।[2]

शब्द की इस सूक्ष्म चेतना के ही कारण अज्ञेय जापानी हाइकू पद्धति को आत्मसात् कर सके । उनके प्रकृति बिम्ब यथायवत् होत हुए भी गत्यात्म कता स सपृक्त ह

यह पगडडी
चली लजीली
इधर उधर अटपटी चाल से नीचे को पर
वहा पहुच कर घाटी म—खिलखिला उठी ।[3]

उनके बिम्ब जीवन की आत्मीय अनुभूतिया को भी प्रेषित करने म सफल होत है

पति सेवा रत साम
उझकता देख पराया चाद
लला कर ओट हो गई ।

× × ×

धूप
—माँ की हसी के प्रतिबिम्ब सी शिशु-वदन पर —

---

१ अरी ओ करुणा प्रभामय प० ४७
२ वही पृ० ६४
३ वही प० ६५
४ वही पृ ६७

हुई भासित

नए चीडो से कँटीली पार की गिरी-शृ खला पर।[1]

यदि केवल प्रकृति-चित्रण ही प्रस्तुत करना होता तो 'दूज का चाद' कविता को अज्ञेय सिर्फ एक पक्ति 'विस्तृत आँगन मे सहमा-सा एक दिया' मे ही प्रेषित कर सकते थे, लेकिन तब कविना मे वह अर्थ-गरिमा नही रह पाती जो प्रस्तुत रूप मे उसमे है ·

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया

तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आँगन मे

सहमा-सा रख दिया गया।[2]

यहा 'मेरे तुम्हारे', 'छोटे-विस्तृत' और 'घर-कुटीर—मन्दिर' शब्दो के सपर्क से यह कविता 'दूज के चाँद' का बिम्ब ही प्रस्तुत नही करती वरन् एक अध्यात्म-बोध से भी पूरित हो जाती है। अज्ञेय की इस शब्द-सामर्थ्य के और भी उदाहरण हैं जिससे अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि एक भी शब्द का शिथिल प्रयोग पूरी अनुभूति को कितना बदल सकता है :

तुम

वही थी ·

किन्तु ढलती धूप का कुछ खेल था—

ढलती उमर के दाग उसने धो दिए थे।

भूल थी

पर

बन गई पहचान

मैं भी स्मरण से

नहा आया।[3]

यहा 'नहा गया' या 'नहा लिया' का प्रयोग क्या उस आत्मीयता को जगा पाता जो 'नहा आया' मे है। इसी प्रकार ·

साँस का पुतला हूँ मै ·

---

१ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ०८३

२. आंगन के पार द्वार, पृ० ७२

३ वही, पृ० २०

जरा से बंधा हूँ और
मरण का दंश दिया गया हूँ
पर एक जो प्यार है न उसी के द्वारा
जीवन-मुक्त मैं किया गया हूँ

म एक जो प्यार है न और विशेषण न — का प्रयोग जिस मासूमियत की सृष्टि करता है उसके आगे काल का पुराना जरा-मरण आदि का गाम्भीर्य हल्का हो जाता है और तब मृत्यु की आग की परिभाषा भी उतना ही स्वाभाविक लगता है।

काल की दुरूह गुत्थी को एक
कौतुक भरा बाल-मन खोलता है।[1]

शब्द की ऐसी सूक्ष्म अर्थ छायाओं से अज्ञेय का यह आत्मीय परिचय अज्ञेय-काव्य और उसके पाठक के बीच की आत्मीयता का विधान प्रस्तुत करता है।

शब्द का कला होने के नाते काव्य में प्रतीक का महत्त्व स्पष्ट ही है क्योंकि स्वयं शब्द की प्रवृत्ति भी स्वभावतः प्रतीकात्मक ही है। अतः जो बात काव्य में शब्द के लिए सत्य है एक सीमा तक प्रतीक के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। शब्द की ही तरह प्रतीक भी घिस जाते हैं—अज्ञेय की ही शब्दावली में कहें तो प्रतीकों के देवता कूच कर जाते हैं—तब उन्हें भी नया संस्कार देने की आवश्यकता होती है। प्रत्येक समय कलाकार प्रतीकों को भी माजता है। यही कारण है कि साहित्य के ह्रास शील युग में प्रतीक भी रूढ और जड होकर अपनी अर्थवत्ता खोने लगते हैं। अतः प्रत्येक समय कलाकार पुराने प्रतीकों को नया संस्कार देता एवं नए प्रतीकों को गढता है। मितव्ययिता कला का गुण है और प्रतीक का धर्म। अज्ञेय इस बात को भली प्रकार जानते हैं और इसी कारण वे सदैव प्रतीक सृष्टि पर बल देते रहे हैं। उनके इस आग्रह के कारण ही कुछ समीक्षकों ने उन्हें फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन से जोडने की कोशिश की है—जिसपर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। अज्ञेय प्रतीकवादियों की तरह हर स्थिति में प्रत्यक्ष कथन को गर्हित नहीं मानते और

---

1 आँगन के पार द्वार पृ 36

न उनके प्रतीक अवचेतन से सीधे निकलते चले आते है। अज्ञेय प्रतीक को जीवन और संस्कृति से जोडकर देखते है अत· उनके काव्य मे प्रतीक-सृष्टि सचेत स्तर पर हुई है।

अज्ञेय की सवेदना के विकास के समानान्तर ही उनके प्रतीकों मे भी परिवर्तन एव परिष्कार होता गया है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओ मे, जव अज्ञेय संक्रमणकालीन भारतीय मानस को अभिव्यक्ति दे रहे थे, घूम-फिर कर आने वाले प्रतीक है—वन्दी और शिशिर। जिस वंदी को ये संवोधित करते है वह वस्तुत· राजनैतिक पराधीनता तथा सामाजिक वर्जनाओ मे वद्ध तत्कालीन भारतीय ही है। इसी कारण अज्ञेय कहते है·

मैं तेरा कवि! ओ कारा की वद्ध अवाध विकलते!
उर पीडा-निधि, पर आखो से आँसू नही निकलते।[1]

अज्ञेय की कुछ प्रारम्भिक रचनाओ मे, जो 'वन्दी-स्वप्न' उपशीर्षक से 'पूर्वा' मे सगृहीत है, वन्दी के इस प्रतीक के माध्यम से ही विवशता और उससे उत्पन्न अवसाद का स्वर व्यक्त होता है

आज मैं कितना विवश हूँ वद्ध है मेरी भुजाएँ
प्राण पर आराधना की साध को कैसे भुलाएँ ?
कोठरी में तन झुके, मन विनत हो तेरे पदो मे—
गीत मेरे घेर तुझको मूक हो, सुध भूल जाए !
हाय अव अभिमान के वे दिन गए है वीत मेरे—[2]

इस अवसाद की ही अभिव्यक्ति अज्ञेय-काव्य मे 'शिशिर' के माध्यम से हुई है। लेकिन यह 'शिशिर' अवसाद का ही नही, भविष्य के प्रति आशा-वादिता का भी प्रतीक वन जाता है.

मेरे प्राण सखा हो वस तुम एक, शिशिर!
—वैसी ही मेरे प्राणो मे रहे अनवुझी आशा,
झिपती चाहे जावे, किन्तु न वुझने पावे।
....
केवल भरे रहे, अस्फुट आंकाक्षाओ से—

---

१. पूर्वा, पृ० ५२
२. वही, पृ० ७२

भर रह, बस ! भरे रह हा फूट न पाए !
यह साकाश विफलता ही
रह धुरी इस मनी की
जिस पर घूम रह हैं प्राण पाकर साथ तुम्हारा
अरे समदुखा, महभागी आ वचित प्राणसखा,
तिमिर ![1]

इस साकाश विफलता क ही कारण अज्ञेय का उत्तरोत्तर विकास हाना है और आकांक्षा इतनी प्रबल हा जाती है कि विषाद का दूर करके बन्दी स्वतन्त्रता के लिए सचेष्ट हा उठता है । 'बन्दीगृह की खिडकी' कविता इस चेष्टा की हा उपज है जिसम बन्दी अपन रिपु को कारागार की खिडकी न खोलने की याचना सी करता-करता अचानक घोषणा कर दता है

नही ! झूठ थी वह निबलता !
भभक उठी अब वह विह्वलता !
खिडकी ? बन्धन ? सँभल कि तेरा आसन डावाँडोल ।

मुझको बाँधे बेडी-कडिया ?
गिन तू अपने सुख की घडियाँ !
मुझ अबाध के बन्दी-गृह की तू खिडकी मत खोल ।[1]

इसी कारण 'बन्दी' अपने कवि स अन्धकार म आलोक दिखाने को कहता है

अब मीलित हैं मेरी आँखें
पर मैं सूर्य देख आया हूँ
आज पडी हैं कडिया पर मैं
कभी भुवन भर मे छाया हू
उस अबाध आतुरता को कवि फिर तुम छेड जगा दो ।

और यहीं से यह भी स्पष्ट हा जाता है कि अज्ञेय की यह स्वतन्त्रता सजनोन्मुख है

---

१ पूर्वा पृ० ३८
२ वही पृ० ५५

और परिष्कृत कर उस नदी के द्वीप के स्थान पर व्यक्ति को समर्पित दीप की ओर उन्मुख करता है। इस संबंध में भी चर्चा हो चुकी है।

अज्ञेय के परवर्ती काव्य में जो प्रतीक मिलते हैं, उनकी आन्तरिक संगति भी हारिल प्रतीक से बठती है। उड़ने की अदम्य लालसा रखने वाला हारिल तितीर्षु मछली में बदल जाता है। हारिल भी अस्तित्व का प्रतीक है और मछली भी। यही कारण है कि निम्नोक्त दो उद्धरणों का स्वर एक ही है। हारिल के लिए कवि कहता है

काँपे न, यद्यपि दसों दिशा में
तुझे शून्य नभ घेर रहा है
रुके न, यद्यपि उपहास जगत का
तुझ को पथ से टेर रहा है।[1]

लेकिन हारिल के 'मछली' में बदलते ही दसों दिशाओं से घेरे शून्य नभ भी सागर में परिवर्तित हो जाता है

जय हमारा
जितना है सागर में नहीं
हमारी मछली में है
सभी दिशाओं में सागर जिसको घेर रहा है
हम उसे नहीं
वह हमको टेर रहा है।[2]

वास्तव में अज्ञेय ने मछली को कई प्रतीक अर्थों में ग्रहण किया है। इस कविता की मछली जहाँ अपने अस्तित्व का प्रतीक है—उस अस्तित्व का जिसका अर्थ उसी में निहित है—वहाँ 'काँच के पीछे जल में हाँफती गोल मछली' या 'हवा का बुलबुला भर पी मन का आतुर मछली जिजीविषा का प्रतीक है। जीवन के क्षेत्र में जो 'जिजीविषा' का प्रतीक है ज्ञान के क्षेत्र में वही मछली ज्ञानैषणा का प्रतीक है और इस प्रकार जीवन का प्रतीक सागर भी न जाने हुए ज्ञान का प्रतीक हो जाता है। इसी बात को दूसरे तरीके से स्वयं अज्ञेय कहते हैं यदि हम सागर

---

१ पूर्वा पृ० १२५

२ अरी ओ करुणा प्रभामय पृ० ११८

को हमारे न जाने हुए सब कुछ का प्रतीक मान ले, तो मछली उस प्रतीक का प्रतीक हो जाती है जिसके द्वारा कवि अज्ञात सत्य का अन्वेषण करता है।"[1] इसी प्रकार एक कविता मे 'अपनी ही परछाई को भेद जाने वाली उजली मछली' पूर्वाग्रहरहित आत्मान्वेषण का प्रतीक बन जाती है :

वीध गया है सत्य मुझे वह
वह उजली मछली है
भेद गयी जो मेरी
बहुत-बहुत पहचानी
बहुत-बहुत अपनी यह
बहुत पुरानी छाय ।[2]

इसी प्रकार अज्ञेय-काव्य मे 'सागर' जीवन का भी प्रतीक है और अज्ञात सत्य का भी। 'उड चल हारिल' की ऊषा परवर्ती अज्ञेय मे सूर्य का स्वरूप ले लेती है और सूर्य की किरण अनुराग और अपनत्व का प्रतीक बन जाती है। यही कारण है कि जीवन के अथाह सागर मे उछली एक बूद भी जिजीविषा का प्रतीक बन जाती है और 'आलोक-छुआ अपनापन' उसे 'नश्वरता के दाग' से मुक्त कर देता है। यहा सूरज वस्तुत. कुण्ठा-मुक्ति व आस्था का ही प्रतीक है जैसा कि 'बावरा अहेरी' कविता से भी स्पष्ट होता है :

बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नही तुझे, सब आखेट है :
एक बस मेरे मन-विवर मे दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोडकर क्या तू चला जाएगा ?
ला मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खडर की शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की कनी से अपनी,
गढ सारा ढाह कर ढह भर कर दे .
विफल दिनो की तू कलौंस पर आँज जा

---

१ आत्मनेपद, पृ० ४६
२ अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ६५

मेरा आँख आज का
– फिर सुना मैंने –
[illegible] और धन के [illegible] उभर आए
[illegible] गिरा था वे [illegible]
[illegible] अहेरी।

इसी प्रकार जहाँ [illegible] गहन चेतना का [illegible] है वहाँ चिड़िया अनुभूति का प्रसार बन जाती है

उड़ गई चिड़िया
काँपी फिर
थिर
हो गई पत्ती।[1]

इस अनुभूति चिड़िया में कवि के अस्तित्व का विलीनीकरण ही वस्तुतः सत्य है

[illegible] में विस्तार [illegible] में जैसे
पट पर आ जाता है बोध
अपना रखे होना धरती में
होने का अकुलित अजान—
तब—जाने कब—
चिड़िया ने ही कहा
कि चिड़िया।
चिड़िया ने ही देखा
वह चिड़िया थी।
चिड़िया
चिड़िया नहीं रही है तब से
मैं भी नहीं रहा मैं।
कवि हूँ!
कहना सब सुनना है, स्वर केवल सन्नाटा।[3]

---

१ बावरा अहेरी, पृ०१६ १७
२ अरी ओ करुणा प्रभामय पृ० ७६
३ आँगन के पार द्वार पृ० ३२ ३३

इसी प्रकार 'मछली' का प्रतीक 'कितनी नावो मे कितनी बार' मे 'यात्री' के प्रतीक रूप मे आता है। अलग दीखने पर भी दोनो का प्रतीकार्थ समान ही है। 'मछली' तैरने की प्रक्रिया से सागर को मापती है और यात्री निरन्तर चलता रहकर लेकिन अर्थ मछली की ही तरह यात्री के अस्तित्व मे है .

तीर्थो को तेरी ही तितीर्षा गढती रही।
मन्दिरो मे कहाँ कुछ होता है ?
तेरी ही गति वहाँ पूजा पर चढती रही,
वही है मन्दिर का ऐश्वर्य, वही श्रद्धा की भी,
मूर्ति की भी अर्थवत्ता।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि बन्दी, शिशिर, हारिल, मछली, सागर, सूर्य, चिडिया, यात्री आदि प्रतीक अज्ञेय काव्य के प्रमुख प्रतीक है। उपमानमूलक प्रतीक तो यत्र-तत्र बिखरे ही पडे है। इस सबध मे यह ध्यातव्य है कि ये सभी प्रतीक सुपरिचित होते हुए भी सर्वाधिक मौलिक एव साधारण लगते हुए भी असाधारण तौर पर व्यापक है। लोक-जीवन की सहजता के प्रति अज्ञेय का आग्रह इन प्रतीको मे भी झलकता है— अज्ञेय यदि पौराणिक प्रतीको की ओर जाते तो यह सभव था कि इस सहजता को ऐतिहासिकता और दार्शनिकता की गरिमा ग्रस लेती। 'इतिहास की हवा' जैसी चिंतनपरक रचनाओ मे अज्ञेय इन प्रतीको का प्रयोग भी करते है। दार्शनिक गरिमा इन प्रतीको मे भी है पर वह इन्हे ग्रस नही सकी है—दोनो ने एक-दूसरे को सवारा है। इस सवध मे यह भी स्पष्ट कर दे कि मात्र प्रतीक-विधान ही यथेष्ट नही है। प्रतीक के निर्वाह मे थोडा-सा भी ढीलापन पूरी कविता की गठन को प्रभावित करता है। मछली के प्रतीक को लेकर अज्ञेय की दो कविताएँ एक ही प्रतीकार्थ को सप्रेपित करती है—लेकिन इनमे एक कविता 'रश्मि वाण' सफाई के आग्रह से युक्त होने के कारण अधिक स्पष्ट हो गई है और इस प्रकार अनुभूति की सहजता भी भग होती है— वह अनुभूति की वजाय एक भाव को अधिक अभिव्यक्ति दे रही लगती है, जब कि दूसरी छोटी कविता 'जीवन-छाया' सक्षिप्ततम रूप मे उसी अनुभूति

---

१ कितनी नावो मे कितनी बार, पृ० ७०

को गपमगापूवा गप्रगित गरती है
पुल पर झुका गाग मैं टेग रहा हूँ
अपनी परछाँही
सोत के निमल जल पर —
तल पर भीतर
नीच पथरील रेतीले थल पर
अरे, उस म पल पल
भेद भद जाती है
कितनी उज्ज्वल
रगारग मछलियाँ ।[1]

वस्तुत दूसरी कविता रश्मि वाण इस कविता की व्याख्या-सी लगती है और क्या यह सचमुच आकस्मिक है कि पुस्तक म दूसरी कविता पहली के तुरत बाद छपी है ?' लेकिन अज्ञेय अपनी कविता को सशोधित करना भी जानत हैं। अरी ओ करुणा प्रभामय की टेर रहा सागर कविता जब परिष्कृत हाकर अधिक सक्षिप्त रूप म होने का सागर' शीषक से कितनी नावो म कितनी बार म आती है तो न कवल अधिक अच्छी कविता का प्रभाव देती या अज्ञेय की काव्यगत ईमानदारी का प्रमाण प्रस्तुत करती है वरन यह भी सिद्ध करती है कि शब्द-सयम समय कवि का प्रमुख लक्षण है।

छन्द के क्षत्र म भी अज्ञेय की उपलब्धि व्यापक महत्त्व की रही है। उनकी लय चेतना पारपरिक छन्दा के आधार पर किए गए प्रयोगा से लेकर नई भूमि का निर्माण करने तक विस्तृत है। माइकेल मधुसूदन दत्त तथा निराला के प्रयोगा की प्रशसा अज्ञेय निरन्तर करते रहे है। इस क्षेत्र म वे स्वय भी इसी परम्परा म आते है। छन्द को तोडने का काय प्रथम बार हिन्दी म निराला द्वारा सम्पन्न हुआ और इस दृष्टि से निराला की हिन्दी काव्य को यह बडी दन है। लकिन यदि सूक्ष्म स्तर पर दखा जाए ता वसा ही महत्त्वपूण काय इस क्षेत्र मे अज्ञेय ने किया है। छन्द का बन्द' भग करते हुए भी निराला का मुक्त छन्द सगीत के प्रभाव से मुक्त नही हो सका

---

१ अरी ओ करुणा प्रभामय पृ ६१

स रही है और यदि कभी नहीं रहा तो इसका कारण कवि की अपनी असमर्थता ही है।

यह वाक्-लय साधारणीकरण को भी अधिक सहज बनाता है। संगीत के आधार पर लय के निर्माण में कवि गायक के अधिक निकट आ जाता है और गायक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि श्रोता हो ही। दूसरी ओर, वाक्-लय को ग्रहण करते ही कवि कुछ कहने के मूड में आता है जिसके लिए किसी ग्राहक की स्थिति अनिवार्य है। इस प्रकार स्वभावत कवि अनुभूति के सम्प्रेषण पर अधिक ध्यान दे पाता है। वाक्-लय पर आधारित नयी कविता अपने पर लगाए गए इस आरोप को भी झुठलाती है कि यह मात्र पढने के लिए है सुनने के लिए नहीं। वाक् लय के कारण इसे बोलकर पढे या सुने बिना अनुभूति के अन्दाज का सही जायजा लिया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार नयी कविता श्रव्य-काव्य की सीमा में भी आ जाती है। भाषा के ही आधार पर निर्मित होने के कारण यह आवश्यक भी है शब्द अधूरे है - क्योंकि उच्चारण मांगते है।[1] हां बोलकर पढने से जिनका तात्पर्य सस्वर आलाप से हो उनकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। बौद्धिकता के कारण जो लोग इस श्रव्य नही मानते वे यह भूल जाते है कि यह उनकी अपनी अक्षमता का प्रमाण ही है—कभी-कभार कवि की सामर्थ्य का भी।

अज्ञेय की कविता 'वाक् लय' पर कितनी आधारित है यह उसे पढ़कर ही जाना जा सकता है

हँसा खेल मरे काका ठीक है।
होगा वही
लू बहेगी
पाला भी पडेगा
दुःख होगा ही।
किन्तु जब मेरी छाती फाड़कर अंकुर एक फूटेगा
और भोली गर्वभरी आस्था से निहारेगा
तब—उस एक मात्र क्षण में—

---

1 नदी के द्वीप पृ २६६

किन्तु काका, आप ने क्या कहा और…
नव सर्जना में जो
अपने को होम कर होते हैं आनन्दमग्न
उनकी तो दृष्टि और होती है।'[1]

यह कविता 'मरु और खेत' के बीच एक संवाद के रूप में है और खेत का यह संवाद नव-सर्जना की गरिमा को ही नहीं वरन् मरु के प्रति व्यंग्य का भाव भी जगाता है। विराम-चिह्नों के माध्यम से जिस 'वाक्-लय' की सृष्टि की गयी है, वह अन्यथा संभव नहीं है। इस लय के निर्माण में अज्ञेय कई दफा तुक का फायदा भी उठाते हैं—लेकिन उससे अनुभूति की मौलिकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सवेरे उठा तो धूप खिलकर छा गयी थी
और एक चिड़िया अभी-अभी गा गयी थी
मैंने धूप से कहा: मुझे थोड़ी गरमायी दोगी उधार ?
चिड़िया से कहा: थोड़ी मिठास उधार दोगी ?
मैंने घास की पत्ती से पूछा: तनिक हरियाली दोगी
तिनके की नोक भर ?
शंखपुष्पी से पूछा: उजास दोगी—
किरण की ओक भर ?
मैंने हवा से माँगा: थोड़ा खुलापन—बस एक प्रश्वास
लहर से: एक रोम की सिहरन भर उल्लास।'[2]

यहाँ 'छा गयी थी—गा गयी थी' 'नोक भर', ओक-भर' 'प्रश्वास—उल्लास' आदि अपने सम्पर्क से 'वाक्-लय' के सौन्दर्य को द्विगुणित करते हैं। 'तुक' के प्रयोग में भी अज्ञेय कितने कुशल हैं इसका पता भी इसी उद्धरण से लग जाता है। तीसरी और चौथी पंक्ति में भी अज्ञेय यदि चाहते तो 'उधार' शब्द द्वारा तुकोत्पन्न लय का निर्माण कर सकते थे पर वहाँ दोनों पंक्तियों के अन्त में 'उधार' का प्रयुक्त होना अखरता, अतः कवि ने इसे टाल दिया है।

---

1. उत्तर, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० २३-२४
2. कितनी नावों में कितनी बार, पृ० १

ग्गी प्रकार अपन का सम म नाटकीय तत्त्व भी कई दफा मिलता है और य सिद्ध कर जाता है कि अपन प्रत्यय उपकरण का प्रयोग नहीं और सहज रूप स करता आता है और फिर नाटकीयता तो उसके भी वात्सल्य का एक विशिष्ट गुण है

ग दिन गहगा
सूरज निकला
जरे क्षितिज पर नगी
नगर के चौक
धूप बरसी
पर अंतरिक्ष स नहीं
फटी मिट्टी से ।[1]

असाध्य वीणा का तो प्रारंभ ही नाटकीय है—इसलिए भी कि वहाँ कथा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक भी है

आ गए प्रियवद ! केशकवली ! गुफा गेह !
राजा ने आसन दिया । कहा
'कृतकृत्य हुआ मैं तात ! पधारे आप ।
भरोसा है अब मुझको
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी ।
लघु संकेत समझ राजा का
गण दौड़े । लाये असाध्य वीणा,
साधक के आगे रख उसको, हट गए ।
सभा की उत्सुक आँखें
एक बार वीणा को लख टिक गयी
प्रियवद के चेहरे पर ।[2]

अज्ञेय की लय अनुभूति से कितनी संपृक्त है इसका कुछ व्यावहारिक विश्लेषण यहां उपयुक्त होगा

जीवन ! वह अब भी है

---

१ अरी ओ करुणा प्रभामय पृ० १५४
२ वहीं पृ ३

विकिरित प्रकाश की किरणे
रग-विरगी
अनथक नाच रही कँच-टुकडे के
हर स्तर पर ।

इस उद्धरण मे पाचो ही पक्तियो मे लय का मोड साफ दीखता है—और वह इसीलिए है कि अज्ञेय कुछ विशिष्ट शब्दो पर जोर देना चाहते है अत. लय का निर्माण भी उन्ही शब्दो के आधार पर हुआ है। 'विकिरित प्रकाश की किरणे रग-विरगी' एक ही पक्ति मे लिखा जा सकता था लेकिन तब 'रग-विरगी' शब्द पर अपेक्षित जोर नही दिया जा पाता क्योकि यह शब्द पक्ति के स्वाभाविक प्रवाह मे आता, विशिष्ट तौर पर नही। लेकिन अज्ञेय इसपर जोर देकर जीवन के वहुरगी रूप पर जोर दे रहे होते है। यही प्रभाव अन्तिम पक्ति 'हर स्तर पर' उत्पन्न करती है, चौथी पक्ति के साथ ही इसे रख देने पर भी लय का निर्वाह तो दूसरे रूप मे होता ही पर मौजूदा रूप मे इच्छित प्रभाव पैदा करने मे जो योग इस पक्ति का है वह नही रहता। इसी कविता मे अज्ञेय आगे लिखते है '

सतहे—सतहे—
सव फेक रही हैं लौट-लौट
वह कौंध
जिसे हम भर न रख सके
प्याले मे
छिछली उथली घनी चौंध से अन्ध
घूमते है हम
अपने रचे हुए
मायावी उजियाले मे ।[१]

यहा की प्रत्येक पक्ति मे लय का सोद्देश्य मोड है—'वह कौध', 'प्याले मे', 'घूमते है हम', 'अपने रचे हुए' आदि पक्तियो पर जोर देकर लयात्मक विशिष्टता के माध्यम से इन शब्दो से विशिष्ट अर्थ ध्वनित करने का प्रयास किया गया है। 'प्याले मे' और 'उजियाले मे' की एक-सी ध्वनि की

१ अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ३०-३१

आवर्त्ति के प्रयोग से कवि 'घूमते हैं हम' की प्रक्रिया का भी लयात्मक स्तर पर उद्घाटित करता है। धूप' का एक सुन्दर बिम्ब अज्ञेय देते हैं

सूप-सूप भर
धूप-कनक
यह सूने नभ में गयी बिखर,
चौंधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर।[1]

इस छोटी सी कविता को इसकी पंक्तियों से ध्वनित लय के आधार पर न पढ़ा जाकर यदि तीव्रगति से पढ़ा जाए तो जो भाव जाग्रत् होता है वह तो पूरी कविता को व्याकरणसम्मत गद्य में लिख लेने पर भी हो ही जाता है। किन्तु प्रत्येक पंक्ति पर लय की यति देते हुए पढ़ें तो मालूम होगा कि धूप-कनक के बिखरने तथा चौंधाये कुरर द्वारा उसे बीनने के भाव को मूर्त करने में लय का योग कम नहीं है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लय में भी अर्थ उद्घाटन की क्षमता होती है—लेकिन यह तभी होता है जब वाक् लय के आधार पर काव्य लय का निर्माण किया जाए। वस्तुतः जिस शब्द पर जोर देना आवश्यक होता है उसके अनुसार ही लय की यति निर्धारित होती है। उसके बिना भी लय का निर्माण तो हो सकता है लेकिन तब शब्द और लय का सामञ्जस्य नहीं बैठता और इससे निश्चय ही कविता की अर्थ गरिमा प्रभावित होती है। अज्ञेय इस बात के प्रति सचेत हैं कि लय की निर्मिति का आधार शब्द हो—और इस प्रकार प्रकारान्तर से लय का आधार भी अनुभूति ही हो जाती है। अन्यथा संगीत के आधार पर लय के निर्माण में शब्द की अवहेलना का खतरा बना रह सकता है क्योंकि वहाँ लय के अनुकूल शब्द का चुनाव होता है जो निश्चय ही अनुभूति के स्वरूप को प्रभावित करेगा। लेकिन शब्द के आधार पर लय का निर्माण अनुभूति के सम्प्रेषण में अधिक सहायक होगा क्योंकि तभी शब्द और लय दोनों का स्वरूप अनुभूति के अन्तराज के अनुकूल रह पाएगा। काव्य में लय के इस महत्त्व को

---

1 अरी ओ करुणा प्रभामय पृ० ६२

अज्ञेय भली प्रकार जानते है और उनकी कविता में शब्द और लय एक-दूजे मे घुल-मिल जाते है। इसी कारण अज्ञेय अपनी अनुभूति को मौलिक स्वरूप मे प्रेषित कर पाते है। लय के प्रति अज्ञेय कितने सचेत है इसका पता तो सिर्फ इसी बात से लग जाता है कि उनकी लम्बी कविताओ मे चिन्तनपरकता के कारण लय का धीमा व सीधा विस्तार स्पष्ट दीखता है जब कि तीव्र अनुभूति वाली लघु कविताए छोटी पक्तियो के आधार पर निर्मित हुई है जिनमे लय की तरगमय गत्यात्मकता (Alternate Currents) अधिक मुखर है।

ऐसा नही है कि अज्ञेय की लय मे सगीतात्मकता है ही नही। स्थानानुकूल वह भी वहा है लेकिन सगीत के आग्रह से नही—अनुभूति के वैसे ही मिजाज के कारण। 'आशी', 'ओ पिया पानी बरसा', 'कतकी पूनो', 'काँगडे की छोरिया', 'चातक पिउ बोलो' आदि कविताओ मे लोकगीतात्मकता के आधार पर लय का निर्माण हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बातचीत की लय ही मूलत अज्ञेय की काव्य-लय का आधार है, यद्यपि किसी भी बडे कलाकार की भाँति उनका भी आग्रह यहा आत्यन्तिक नही है। सदर्भानुकूल वे अपनी लय का स्वरूप दूसरे तत्त्वो पर भी निर्धारित करते है—पर मूल आधार की उपेक्षा कही नही है। 'क्योंकि' और 'इसीलिए' का प्रयोग अज्ञेय-काव्य मे अधिक मिलने का कारण भी यही 'वाक्-लय' है क्योकि इसमे वार्तालाप का अन्दाज अधिक रहता है, यद्यपि यह प्रयोग कही-कही अखरता भी है। यह 'वाक्-लय' अज्ञेय की सवेदना के भी अनुकूल ही है क्योकि अज्ञेय की संवेदना की तराश भी मूलत सवादात्मक ही है।

'वाक्-लय' के ही कारण अज्ञेय की अधिकाश कविताएँ पाठक या श्रोता के मन मे एक सुन्दर प्रतिमा का भास करवाती है। निराला और प्रसाद की भाँति अज्ञेय की कविता का सौदर्य उन्मुक्त झरने या नदी के प्रवाह का सौंदर्य नही—वह छोटी-छोटी सुरम्य पहाडियो के बीच घिरी किसी निर्मल झील का आवेगरहित सौंदर्य है। यही कारण है कि अज्ञेय की कविता के प्रवाह मे हम आँखे मूदकर बहते नही क्योकि वहा छायावादी या उत्तर-छायावादी काव्य की सिम्फनी नही—सिम्फनी का कुछ आनन्द तो बिना समझे भी लिया ही जा सकता है। अज्ञेय की कविता का सौंदर्य

प्रतिमा का सौंदय है जिसका आनन्द लेने के लिए कला-पारखी की प्रतिभा हानी आवश्यक है। श्री साह्। की एक कविता है

सचमुच जब मैं बातें कर रहा था
तब तुम भी नहीं थे—
व शब्द थ
जा मुझे तराशत चल जा रह थ
और तब मैं तुम्ह नहीं, खुद का भा नहा
उस तीसर का दख रहा था
जो अक्सर मरा मृत्यु के भीतर स
अनायास उद्‌भूत हान लगता है।
और जब तक मैं बालता रहा
कलाकृति की तरह
वह निर्मित हाता रहा
फिर जब मैं चुप हा गया
बाजीगर की गेंदा की तरह
वह लुज-पुज
न जाने किस खोखल मे समा गया।

अज्ञेय की कविता पढते समय शब्द हमको यू ही तराशते चले जात है—कलाकृति की तरह कुछ निर्मित होता रहता है और फिर खोखल म नही, हमारे व्यक्तित्व म समा जाता है।

ऐतिहासिक दाय का वहन

अज्ञेय की कविता पर मुख्यत तीन आरोप लगाए जाते है (१) अज्ञेय का कवि भारतीय नही है, (२) अज्ञेय आधुनिक नही है—ये दो आरोप अधिकाश समीक्षको द्वारा लगाए गए है। (३) तीसरा आरोप डा० देवराज का है कि 'अज्ञेय की काव्य-साधना मे नयी, समन्वित, जीवन-दृष्टि को पाने का सचेत प्रयत्न नही है।"[1] अज्ञेय की काव्य-सवेदना के विकास के अध्ययन एव उसके स्वरूप विश्लेपण के पश्चात् ये तीनो आरोप उचित नही प्रतीत होते।

भारतीय न होने का आरोप अज्ञेय पर प्रारम्भ से ही लगता रहा है, जब कि वास्तविकता यह है कि आधुनिक कविता मे अज्ञेय भारतीय परम्परा की विशिष्ट कडी बनते है। अज्ञेय की सवेदना के रचाव को समझने की चेष्टा मे उनपर पडने वाले विदेशी प्रभावो का लेखा-जोखा हमने भी किया है, लेकिन प्रभावित होने का अर्थ अपने मूल व्यक्तित्व को विकसित एव सम्पन्न करना होता है, उससे कटना नही। अज्ञेय ने भी यह प्रभाव इसी अर्थ मे ग्रहण किया है। रवीन्द्र से प्रभावित अज्ञेय की मानववादी सवेदना ने आगे जिन स्रोतो से भी प्रभाव ग्रहण किया है, वे भारतीय मनीषा के अनुकूल ही है—उनके विरोधी तो कही नही। फ्रायड और विज्ञान के प्रभाव पर देशी-विदेशी का आरोप जिन लोगो ने लगाया वे वस्तुत. भूल पर थे क्योकि विज्ञान तो स्वभावत ही सार्वभौम होता है—

---

१. प्रतिक्रियाएँ, पृ० १६१

उसे देशबद्ध करना उसकी प्रकृति के ही अनुकूल नहीं है। मानवेन्द्रनाथ राय का बुनियादी मानववाद भी अनय क भारतीय संस्कारों के अनुकूल ही है। और फिर स्वय मानवेन्द्रनाथ राय को भी अभारतीय नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका दर्शन अरविन्द गांधी आदि समकालीन भारतीय मनीषियों का विरोधी नहीं पूरक ही है।[1] औपनिषदिक एवं बौद्ध की अभारतीयता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः बात ले-देकर ईसाई और अस्तित्ववादी प्रभाव तक ही सीमित रह जाती है। ईसा के करुणा सहन तथा प्रेम (Grace) की धारणा का अज्ञेय पर जो प्रभाव पड़ा वह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता क्योंकि बुद्ध और उनकी विचार धारा से परिचित विद्वान् दोनों में स्पष्ट समानता देख सकते हैं। कुछ इतिहासकार तो यह भी मानते हैं कि स्वयं ईसाइयत के विकास में भी बौद्ध प्रभाव ने योग दिया है। और संभवतः यही कारण है कि अज्ञेय बौद्धों के महाशून्य और ईसाइयों के Transcendent में समन्वय कर सके। यह विरोधाभास लग सकता है क्योंकि ईसाइयों का Transcendent तो परम अस्तित्व है जो पार्थिव के माध्यम से भी अभिव्यक्त होता है जब कि बौद्धों के शून्य की परिकल्पना में सत्ता का निषेध है। पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। डा० राधाकृष्णन् के मतानुसार बौद्धों के शून्य का अर्थ भौतिक स्तर पर निषेध का होते हुए भी भावात्मक स्तर पर सत्ता से संपन्न है।[1] और पार्थिव को अतिक्रमित न करने पर ईसाइयों के Transcendent तथा बौद्ध निर्वाण के ब्रह्म में कोई विशेष दूरी नहीं रह जाती।

पहुंचने के लिए उन्हे दो महायुद्धो की, दूसरे महायुद्ध मे पराजय और विना लडे हथियार डाल देने के अपमान की आत्मग्लानि की जरूरत पर पडी। अपने को हीन, अरक्षित, असहाय और पतित पहचानकर ही उन्होने इस स्वाद का मूल्य जाना। क्योकि वे इतिहास-जीवी थे, इतिहास-वोध से वँधे हुए थे। लेकिन भारत की पौराणिक गाथा सदियो से इस वात को पहचानती है। कमल-पत्र पर ओस की वूद की नश्वरता का सौन्दर्य अस्तित्व के कुएँ मे लटकते हुए जीवन के मधु-विंदु का स्वाद-माधुर्य, हमारे लिए सुपरिचित ही नही, चिरपरिचित वात है, क्योकि हमारी प्रतिभा सीधे वहाँ तक पहुचती है।"[1]

अज्ञेय भारतीय सस्कृति से कितने गहरे स्तर पर सपृक्त है, हमारे सास्कृतिक अनुपगो के प्रति उनका अनुराग इसका प्रमाण है। इससे इस वात का भी पता चलता है कि अज्ञेय ने विदेशी प्रभाव को भी भारतीय सदर्भ मे ही ग्रहण किया है। तभी उनका कवि स्वय को तीर्थ-यात्री समझ पाता है और उनकी अनुभूति एक सस्कारी भारतीय की अनुभूति लगती है

यह सूरज का जपा फूल
नैवेद्य चढ चला
सागर हाथो
अवा तिमिरमयी को
रुको साँस भर
फिर मैं यह पूजा-क्षण
तुमको दे दूँगा।[2]

हाँ, जो लोग वद कमरे मे ही रहना चाहते हो, उन्हे तो सभवत गाधी भी अभारतीय ही लगे क्योकि रस्किन, टॉलस्टॉय, थोरो, तथा 'सरमन ऑफ दी माऊट' से प्रभावित होने वाला भला भारतीय कैसे रह सकता है।

अज्ञेय पर दूसरा आरोप आधुनिक न होने का है। आधुनिकता जिन आलोचको के लिए एक मूल्य है—जिसका स्वरूप-निर्धारण उन्होने अपनी

---

१ कल्पना; १९८, पृ०११

२ कितनी नावो मे कितनी वार, पृ० ४

रुचि एव सामर्थ्य के आधार पर कर रखा है—अज्ञेय यदि उन्हें आधुनिक न लगें तो आश्चर्य की बात नही। इसी प्रकार जो लोग अनास्था, कुण्ठा, या महानगरीय जीवन को ही आधुनिकता मानते है और इस रूप मे जिनके लिए आधुनिकता प्रकारान्तर से मूल्य ही है उनके लिए भी यह सोचना स्वाभाविक ही है क्योकि अज्ञेय ऐसे समीक्षको द्वारा कल्पित आधुनिकता की सीमा मे नही आते। वस्तुत यह सारा भ्रम दो बातो के कारण है आधुनिकता को मूल्य मान लेना और अज्ञेय के अध्यात्म बोध को न समझ पाना।

आधुनिकता कोई निश्चित मूल्य नही है और न यह सदैव अनाध्यात्मिक एव धर्म विरोधी ही है। यह वस्तुत व्यक्ति के स्वतन्त्र विवेक के प्रयोग के अधिकार का प्रश्न है। दूसरे शब्दो मे कहे तो आधुनिकता वह दृष्टिकोण है जो किसी भी पूर्व निर्धारित मूल्य को थोपने के विरुद्ध है और व्यक्ति के अपने विवेक की कसौटी पर प्रत्येक मूल्य को परखने पर बल देता है। अत निश्चय ही स्वय आधुनिकता तो कोई मूल्य हो ही नही सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकता सभी मूल्यो के केन्द्र मे व्यक्ति के विवेक को रखती है। इसप्रकार प्रत्येक मूल्य व्यक्ति-सापेक्ष है—ऐसा व्यक्ति जो विवेकशील है।

इस प्रकार आधुनिकता व्यक्ति-केन्द्रित दृष्टिकोण है अधिक गहरे जाकर देखें तो मानव-केन्द्रित दृष्टिकोण। यहाँ किसी मानवेतर अस्तित्व को सिद्ध-असिद्ध करने का प्रश्न नही है। इसी कारण हम उन सभी विचारको को आधुनिक मानकर चलते हैं जिनकी समस्या का केन्द्र मानव है—जिनकी समस्या मानव की समस्या है—चाहे उनके समाधान कभी कभी एक-दूसरे के विरोधी भी क्यो न हो। इसीलिए एक ओर मार्क्स सार्त्र और बर्टेण्ड रसेल आधुनिक हैं तो दूसरी ओर गाधी, मास्पर्स, बूबर और अरविन्द भी आधुनिक विचारको की श्रेणी मे आते हैं। यही कारण है कि डा० एच० लारेन्स बनार्ड शॉ, टी०एस०ईलियट यीटस आदि और स्पेण्डर भिन्नता रखते हुए भी आधुनिक तो हैं ही क्योकि चाहे इनके समाधान अलग-अलग रहे हों पर सबका केन्द्र मानव ही है।

आधुनिकता की इस धारणा के आधार पर देखें तो अज्ञेय अनाधुनिक नहीं लगते। बल्कि आधुनिकता की इस धारणा के प्रति वे सचेत भी है

"विज्ञान ने नैतिकता को ईश्वर-परक न मानकर मानव-सापेक्ष मान लिया है, मानव की उसकी परिकल्पना चाहे कितनी भी विस्तीर्ण हो।··· इस प्रकार ससार का मानदड मनुष्य को मानते ही हमारी नैतिकता के आधार मे वहुत-से अवश्यम्भावी परिवर्तन होने लगते है···नैतिकता की भावना वदलने का पहला कारण है धर्म-भावना का अथवा ईश्वर की परिकल्पना का रूप-परिवर्तन, जिसके कारण सृष्टि का या कम से कम मानव के उससे सवध का केन्द्र ईश्वर न रहकर स्वय मनुष्य हो गया है।"[1] और स्वय अज्ञेय की सवेदना का मूल केन्द्र मानव ही है—जीता-जागता पार्थिव मानव। यही कारण है कि पार्थिव सत्ता का अस्वीकार अज्ञेय मे कही नही है वल्कि पार्थिव उनके लिए आनन्द का माध्यम वन जाता है। 'नदी के द्वीप' अज्ञेय का मानवीय सवधो पर लिखा गया उपन्यास है, जिसमे उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र रेखा के माध्यम से अज्ञेय कहते है "मानव और मानव का सहज भाव से साक्षात्—वही हमारा मानव-जीवन से भी और मानवता के जीवन से एक मात्र सपर्क हो सकता है। नही तो मानवता—यानी हमारी कल्पना—एक विशाल मरुभूमि है।"[2] हमारे युग मे मानव और मानव का पारस्परिक सवध यान्त्रिकता से उत्पन्न कितनी अहम् मनोवैज्ञानिक समस्या है—इसका विश्लेषण एरिक फ्रॉम ने 'द सेन सोसाइटी' मे कुशलतापूर्वक किया है, जिसे यहा दुहराना अनावश्यक-सा ही है। मानव और मानव की यह सवध-चेतना अज्ञेय-काव्य मे अधिक विस्तृत अर्थ मे 'मम' और 'ममेतर' की सवध-चेतना है। यह 'मम' तो मानव है ही, 'ममेतर' मे भी मानव का वहिष्कार नही है—वल्कि मानवसमेत सारा परिवेश ही 'ममेतर' है। इसी कारण अज्ञेय का आध्यात्मिक 'तू' भी मानव एव वस्तु-जगत् मे ही अभिव्यक्त होता है और उसीके माध्यम से अज्ञेय न केवल आध्यात्मिक 'तू' तक पहुँचते है वरन् अपने को भी पहचानते है और तभी 'ममेतर' के प्रति कृतज्ञता भी अनुभव करते है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अज्ञेय की आध्यात्मिक अनुभूति सहज साक्षात् की ही अनुभूति है वहा आध्यात्मिक सत्ता मे व्यक्ति का

---

१ हिन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृ०१६

२ नदी के द्वीप, पृ० ७४

विलीनीकरण नहीं—व्यक्ति और आध्यात्मिक सत्ता के बीच संवाद विधान है। इस विधान में मानव का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। यही कारण है कि अज्ञेय काव्य में 'मैं' और 'तू' का बोध सम्बद्ध बना रहता है।

हाँ, जो लोग वैज्ञानिक निश्चयवाद के नाम पर आध्यात्मिकता का विरोध इसलिए करना चाहें कि उसका प्रत्यक्ष रूप निर्धारण नहीं किया जा सकता वे संभवतः अब विज्ञान में भी संदेह करेंगे क्योंकि भौतिक विज्ञान की सारी प्रक्रिया जिस अणु पर आधारित है, उसीका स्पष्ट निरूपण स्वयं विज्ञान भी नहीं कर पा रहा है और न क्रिस्टल के तत्त्व को ही समझ पाया है जिसके परिणामस्वरूप स्वयं अज्ञेय के ही शब्दों में 'वैज्ञानिक का यांत्रिक चिन्तन भी संदिग्ध हो गया और एक नये प्रकार के अनिश्चय ने जन्म लिया।'[1] इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिकता के कारण अज्ञेय को अनाधुनिक मानने वाले समीक्षक गांधी, अरविन्द, टाम्पस आदि चिन्तकों तथा ईलियट (जिसका रुझान स्पष्टतः कैथालिक सम्प्रदाय की ओर था) हापकिन्स (जिसकी कविताएँ धार्मिक स्वर से अनुप्राणित हैं एवं जो स्वयं पादरी था) तथा यीट्स (जिसे नव रहस्यवादी कहा जाता है) आदि कवियों को भी संभवतः आधुनिक नहीं मानने होंगे।

अज्ञेय पर तीसरा आरोप डा० देवराज का है जो मानते हैं कि अज्ञेय की काव्य-साधना में नयी समन्वित जीवन-दृष्टि को पाने का सचेत प्रयत्न नहीं है। वे यह भी कहते हैं वे यह भी कहते हैं 'हरी घास पर क्षण भर' से 'आँगन के पार द्वार' तक यात्रा करता हुआ अज्ञेय का भाव-बोध प्रेरणा के प्रायः एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित रहा है।'[2] पहले हम इसी बात को लें। अज्ञेय की संवेदना के विकास क्रम के विश्लेषण में हमने देखा है कि वस्तुतः 'हरी घास पर क्षण भर' के पश्चात् ही अज्ञेय का विकास एक प्रमुख कवि के रूप में हुआ है। मानवेन्द्रनाथ राय, ईसाई एवं वैज्ञानिक अस्तित्ववाद, बौद्ध एवं औपनिषदिक चिन्तन तथा विदेश-यात्राओं ने अज्ञेय की संवेदना को निरन्तर नवीन अनुभव संस्कार एवं शक्ति का सम्पादन किया है तथा

---

१ हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० ३०

२ पूर्वोक्त, पृ० १२८

उन्भावना ही ता है जब वि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच सहज सबध विधान व्यष्टि और समष्टि दाना हा के लिए हितकर है—व्यष्टि और व्यष्टि मिलकर ही ता समष्टि का भाव जगाते हैं। यह सबध अधिक व्यावहारिक भी है क्याकि यहाँ एक व्यक्ति दूसरे यथाथ व्यक्ति से जुडता है—किसी अमूत भाव से नही। और फिर हमारे युग म जहाँ यात्रिक परिचालन व्यक्ति का उसके चाहे न चाहे समष्टि बना ही रहा है यह वयक्तिक सबध चेतना ही उस यात्रिक समष्टि बनन से रोक सकती है। इस प्रकार युगीन सदभ म अनेय हमे रवीद्र की तुलना म अधिक अनुकूल लगन है जा पूव और पश्चिम दाना का अधिक ग्राह्य हा सकते हैं क्याकि वे रवीद्र स अधिक यथाथवादी हैं। बल्कि यू कह ता अधिक उचित होगा कि साहित्य-परम्परा मे अनेय रवीद्र स आगे की कडी हैं। यदि रवीद्र पूव और पश्चिम के बीच पुल का—मध्यस्थ का—काय करत है तो अज्ञेय उस विशेष स्थल के प्रतीक है जहाँ दो विभिन्न धाराए आकर एक-दूसरे म घुल मिल रही ह। यह काय न केवल अनेय की काव्य प्रतिभा का प्रमाण है वरन हमारी भाषा के दावो को भी उचित सिद्ध करता है।

डा० देवराज यह मानते हैं कि आज के साहित्यकार का एक विशेष काय युग-मानव की खण्डित सवेदना और विच्छिन्न जीवन दृष्टि को साथक एकता का आधार एव आकार देना है। और उपयुक्त विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि अनेय यह विशेष काय करने म काव्य-स्तर पर तो सफल ही रहे हैं हाँ यदि सचेत प्रयत्न से तात्पय उपदेश वृत्ति ग्रहण करना हा ता बात दूसरी है।

अनेय पर लगाए गए इन आरोपा को अनुचित मानत हुए भी कुछ प्रश्न पाठक के मानस को उद्वेलित कर सकते हैं क्या अनेय के सबध म यह भ्रम स्वय अनेय-काव्य से ही उदभूत नही हाता कि वे आधुनिक नही हैं? रागा त्मकता के प्रति अनेय का आग्रह और उनकी भाषा की प्रवत्ति रोमाटिक नही है? क्या अनेय आज के भारतीय यथाथ को अभिव्यक्त कर रहे हैं?

रागात्मकता मूलत एक रोमाटिक भाव है। यह भाव अनेय म है और इस दृष्टि से अनेय का रुझान रोमाटिक है—यह मानने म कोई आपत्ति नही हो सकती है। सभवत यह कुछ विराधाभास लगे क्याकि

इसी निवध मे अज्ञेय को आधुनिक भी कहा गया है। लेकिन वैसा है नही। रागात्मकता ठीक उसी प्रकार एक रोमाटिक भाव है, जिस प्रकार घृणा, आक्रोश, दु:ख, नैराश्य, आशावादिता भी। इस दृष्टि से देखने पर अज्ञेय के अतिरिक्त भी हिन्दी मे ऐसा कोई कवि नही दीखता जिसे हम रोमाटिक न कह सके। लेकिन यह तर्क सतुष्ट नही करता। इससे यह कहा सिद्ध होता है कि अज्ञेय रोमाटिक होते हुए भी आधुनिक है ?

वास्तव मे यह भ्रम भी रोमाटिकता और आधुनिकता को एक-दूसरे का अनिवार्य विरोधी मान लेने के कारण उद्भूत होता है। रोमाटिकता और आधुनिकता दोनो के मूल मे वस्तुत. वैयक्तिक स्वातत्र्य का ही भाव है। लेकिन अन्तर यही है—और वैसे यह अन्तर कम महत्त्वपूर्ण नही है—कि रोमाटिकता मूलत भावनामूलक होने के कारण एक प्रकार के वैयक्तिक स्वच्छन्दतावाद को जन्म दे सकती है जब कि आधुनिकता बुद्धिमूलक होने के कारण वैयक्तिक विवेक पर जोर देती है। दूसरे शब्दो मे यह फर्क भावना एव बुद्धि का है। लेकिन यह अन्तर क्या सचमुच इतना वडा है कि इसे पाटा नही जा सके ? वस्तुत· सस्कृति का अर्थ चेतना द्वारा भावना का सस्कार ही तो है। यह भी ध्यातव्य है कि यहाँ भावना को दमित करने की वात नही, उन्हे सस्कारित करने, उनका उदात्तीकरण करने की वात है। अत इस सस्कार के पश्चात् आधुनिकता एव रोमाटिकता एक-दूसरे के विरोधी नही रह पाते। हिन्दी-काव्य मे एक गहरे एवं सूक्ष्म स्तर पर यह कार्य अज्ञेय द्वारा सपन्न हुआ है। 'मम' और 'ममेतर' के वीच रागात्मक सवध-विधान यहाँ अतिवादी नही है क्योकि अह का विलीनीकरण करते हुए भी 'निजता' वहाँ सुरक्षित है—इसी कारण किसी प्रकार की भावुकता या भाव-विह्वलता अज्ञेय-काव्य मे नही है। 'मम' और 'ममेतर' के वीच एक तदनुरूप स्तर वना रहता है। इस प्रकार की रागात्मकता भी यदि अनाधुनिक है तो आधुनिक होने का अर्थ क्या यत्रवत् हो जाना है ? फिर कविता लिखना, उसे पढकर आनन्द लेना और उसकी समालोचना करना भी क्या एक प्रकार की आधुनिकता ही नही है ?

क्या अज्ञेय समसामयिक भारतीय यथार्थ को अभिव्यक्ति दे रहे है ? यह प्रश्न सचमुच महत्त्वपूर्ण है। अज्ञेय की काव्य-सवेदना पर रवीन्द्र के

प्रभाव का विश्लेषण करते समय इस बात की ओर इंगित किया गया है कि इस प्रभाव के परिणामस्वरूप अज्ञेय की काव्य-सहुच रागात्मक रही और इस बात का प्रभाव उनके काव्य पर भी पड़ा। वस्तुत इस रागात्मकता के कारण अज्ञेय जहाँ एक समन्वित दृष्टिकोण प्रस्तुत करके रवीन्द्र की परम्परा को आगे बढ़ा सके वहीं यही कारण उनके काव्य की सीमा भी रहा। सचेत स्तर पर होने के कारण यह रागात्मकता ही अज्ञेय की मर्यादात्मक संवेदना के मूल में रही और इसी कारण अज्ञेय द्वन्द्वात्मक अनुभूति के कवि नहीं रहे। उनके काव्य में विद्रोह का स्वर भी इसी सहज रागात्मकता के आग्रह का परिणाम है। कालान्तर में जो अन्य प्रभाव अज्ञेय ने ग्रहण किए और उनमें जो सामंजस्य वे बिठा सके, वह इसी मर्यादात्मकता के कारण संभव हुआ। लेकिन इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि मानसिक द्वन्द्व एवं तनाव की अनुभूतियों को अज्ञेय-काव्य में स्थान नहीं मिल सका। द्वन्द्व एवं तनाव के शमन के पश्चात् आनन्दानुभूति की कुशलतापूर्वक अभिव्यक्त कर पाने की क्षमता निस्सन्देह अज्ञेय में है लेकिन उस द्वन्द्व एवं तनाव को मूर्त रूप देना अज्ञेय की संवेदना की सीमा में नहीं आता। इनसे प्राप्त होने वाली पीड़ा को अज्ञेय अपने काव्य में स्थान दे सकते थे लेकिन उनके पास समस्या का एक समाधान था, अत उस पीड़ा के गीत गाना उचित नहीं था क्योंकि दु ख वस्तुत तभी दु ख है जब उसका शमन न हो सके, जब वह असहनीय भी हो और उसे सहन करने की विवशता भी।

आज के सचेत भारतीय की जो मन स्थिति है वह वस्तुत रागात्मक संवेदना के अनुरूप नहीं है। वह हर स्तर पर एक द्वन्द्व से गुजर रहा है। यह द्वन्द्व नैतिक भी है सामाजिक भी और राजनैतिक भी। आधुनिक दृष्टि और अपने परम्परागत संस्कारों के बीच वह कोई समन्वय नहीं बिठा पा रहा है। बौद्धिक स्तर पर एक गरिमामय थाती का उत्तराधिकारी होते हुए भी आज वह पश्चिममुखापेक्षी है। राष्ट्रीय स्तर के राजनैतिक प्रश्नों पर तो क्या, प्रान्तीय और स्थानीय राजनीति के प्रश्न पर भी वह कोई निर्णय नहीं ले पा रहा है और अपनी विदेश नीति को आदर्श के रूप में स्वीकार करते हुए भी वह व्यावहारिक स्तर पर उन कठिनाइयों को भोगना नहीं चाहता जो इस प्रकार के आदर्श का अनिवार्य परिणाम होती है। और इस सबके साथ यह और कि अभी उस असमर्थता का अहसास भी नहीं हो रहा।

ऐसी द्वन्द्वात्मक स्थिति को रागात्मक काव्य पहुच द्वारा तो निश्चय ही प्रस्तुत नही किया जा सकता क्योकि या तो खुरदरे यथार्थ को आशावादिता से रागात्मक बनाकर उससे एक प्रकार का पलायन ही किया जा सकता है; अथवा स्थितियो के प्रति आवेशात्मक प्रतिक्रिया हो सकती है जो काव्य को निश्चय ही ऊचे स्तर पर नही ले जा सकती। इसका तात्पर्य यह नही है कि इस द्वन्द्व को कविता मे अभिव्यक्त नही किया जा सकता लेकिन रागात्मक काव्य-पहुंच निश्चय ही इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का वहन नही कर सकता। हा, अज्ञेय इस द्वन्द्व की पीडा को अवश्य अभिव्यक्त कर सकते थे, लेकिन जैसा कि कहा गया है यह पीडा अभी असहनीय नही हुई—क्योकि असमर्थता का अहसास अभी नही है। अत उस पीडा का रागात्मक स्वरूप काव्य को उस स्तर पर नही ले जा पाता, जहा अज्ञेय अभी पहुच पाए है।

यही कारण है कि अपने काव्य की समस्या—'मम' और 'ममेतर' का सवध-विधान—आधुनिक होते हुए भी अज्ञेय विज्ञ आलोचको को भी अपने अनाधुनिक होने का भ्रम कर देते है। समस्या आधुनिक है और उसका समाधान भी आधुनिक है—हमारा उससे असहमत होना उसे अनाधुनिक नही कर देता क्योकि आधुनिकता कोई निरपेक्ष मूल्य नही है। हम ईलियट की धार्मिकता से भी असहमत हो सकते है, उनके समाधान भी हमे अस्वीकार्य हो सकते है, लेकिन जिस मानसिक तनाव और उससे उत्पन्न तीखी वेदना और निराशा का चित्रण उनके काव्य मे मिलता है, वह उस पीडा को भोग रहे आधुनिक मानस को उनके समीप ला देता है। लेकिन अपने समाधान मे ईलियट से श्रेष्ठ स्तर पर होते हुए भी अज्ञेय यदि वैसा प्रभाव नही छोडते तो उसका कारण उनके काव्य मे युगीन द्वन्द्व एवं पीडा का अभाव ही है। और इस अभाव के मूल मे अज्ञेय की रागात्मकता और संवादात्मक सवेदना ही है। अपनी काव्य-पहुच मे अज्ञेय यद्यपि ईलियट की अपेक्षा यीट्स के अधिक समीप पड़ते है पर उनके काव्य मे भी ऐन्द्रिक और आध्यात्मिक के बीच का द्वन्द्व एव उसकी वेदना मिलती है जो अज्ञेय मे नही है—सभवत इसलिए कि उसका समाधान उनके पास है।

यद्यपि अब यह तो नही लगता कि यह द्वन्द्व अज्ञेय-काव्य मे कभी स्थान पा सकेगा—और यदि हो भी तो क्या यह प्रत्यारोहण अब स्वाभाविक

स्तर पर होगा ?—लेकिन यदि वे अपनी वर्गविनयतामूलक मानववादी संवेदना की ही पीठिका पर कोई युग-काव्य हिन्दी को दें तो वह भी निश्चित रूप से स्पृहणीय तो होगा ही।

लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस श्री विजयदेव नारायण साही का बहुचर्चित एवं महत्त्वपूर्ण लेख है। एक ही लेख में कई मौलिक प्रश्नों से सीधे साक्षात्कार की चेष्टा श्री साही ने की है और सम्भवतः यही कारण है कि कई स्थलों पर उनका चिंतन सरलीकरण के दोष से ग्रसित हो गया है। अज्ञेय को प्रसाद की परम्परा में फिट करने के लिए कामायनी और नदी के द्वीप में समानता खोजने का प्रयास चिंतन के इस सरलीकरण का ही प्रमाण है। श्री साही कहते हैं—"नदी के द्वीप उपन्यास में अज्ञेय तक सुनियोजित ढांचे में फिर अपनी आरम्भिक चिन्ता का समाधान खोजते हैं। प्रयोग का माध्यम फिर स्त्री-पुरुष हैं और एक गहरे स्तर पर कामायनी का ही रेखाचित्र उपन्यास में व्याप्त हो जाता है ? श्रद्धा जैसी गौरा इडा जैसी रेखा और दोनों के बीच परिक्रमा करता हुआ मनु की तरह भुवन। गौरा से आरम्भ करके रेखा को स्पर्श करता हुआ भुवन फिर गौरा तक लौट आता है।"[1] किन्तु यह तुलना सगत नहीं लगती—ऊपरी स्तर पर चाहे एक बारगी ऊपर से सफल भले हो हो जाए। सबसे बड़ी कमी जो इसमें लगती है वह यही कि 'नदी के द्वीप' में चन्द्र माधव नाम का एक पात्र भी है—और ऐसा पात्र जो रेखा के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—लेकिन कामायनी में उसका कोई स्थान नहीं। तो क्या 'नदी के द्वीप' में चन्द्रमाधव का चरित्र अज्ञेय ने अनुद्देश्य ही निर्मित किया है ? यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि स्वयं अज्ञेय की दृष्टि में भी चन्द्रमाधव का चरित्र महत्त्वपूर्ण है "रेखा भावना की सच्चाई के प्रति समर्पित है या होना चाहती है चन्द्रमाधव सहज प्रवृत्ति को ही अपना लक्ष्य बनाता है।"[2] और यहाँ यदि मनु के प्रति अन्याय न समझा जाए तो यह भी कह दें कि अपनी मूल प्रवृत्ति में—येन केन प्रकारेण प्राप्त करने की लालसा में—मनु

---

१ नयी कविता ५ ६ पृ० ११८

२ आत्मनेपद पृ० ८४

और चन्द्रमाधव समान स्तर पर लगते हे—यद्यपि मनु जैसा प्रतापी व्यक्तित्व चन्द्रमाधव का नही है, भुवन का तो हो ही नही सकता। वल्कि इस विभिन्नता का कारण भी कृतिजन्य परिस्थिति ही है। चन्द्रमाधव आज का चरित्र है, व्यावसायिक युग का, अतः वह छल-छद्म का सहारा लेता है जब कि मनु वैदिकयुगीन है—और फिर वह भी महाकाव्य का धीरोदात्त नायक—अत वह इच्छित की प्राप्ति के लिए वल का सहारा लेता है, अन्यथा मूल प्रवृत्ति एक ही है। इसी प्रकार इडा और रेखा की समानता भी सरलीकृत दृष्टि का ही परिणाम है। इडा जहा मनु से खिचती है वहा रेखा भुवन को समर्पित होती है, कुछ सकोच भुवन मे ही है। दूसरी ओर इडा जहा कैलास पर मनु के चरणो मे शीश टेकती है, वहा रेखा का मार्ग भुवन के मार्ग से अलग हो जाता है। श्रद्धा की भाति गौरा रेखा को यह भी नही कह सकती—'सर चढी रही पाया न हृदय' क्याकि भावना के प्रति ईमानदारी ही के कारण तो रेखा भुवन के पथ से अपने को हटा लेती है। वल्कि यदि साम्य देखना ही हो तो कुछ हद तक श्रद्धा एव रेखा मे देखा जा सकना है क्योकि दोनो ही अपने प्रेमी को वाधती नही।

इससे हमारा तात्पर्य यही है कि इस प्रकार का सरलीकरण हमे सतुष्ट तो कर सकता है पर सूक्ष्म रूप मे सत्य तक नही पहुचने देता। इस प्रकार का साम्य तो किसी भी त्रिकोणमूलक कथा मे खोजा जा सकता है। अत यह अर्थ नही निकाला जाना चाहिए कि अज्ञेय को कही भी प्रसाद के साथ रखकर नही देखा जा सकता। प्रसाद ही क्यो, पूरे छायावाद की परम्परा को आत्मसात् करके ही अज्ञेय हिन्दी कविता को नया मोड दे पाए है। अज्ञेय की इस उपलब्धि को समझने के लिए तत्कालीन परिस्थिति का एक सक्षिप्त विश्लेपण आवश्यक है।

अज्ञेय का प्रारम्भिक रचना-काल छायावाद के चरमोत्कर्ष का काल है। उत्तर छायावादी प्रवृत्तियो के नाम से जिन्हे जाना जाता है, उनके प्रारम्भ और विकास का काल भी यही है। यह ध्यातव्य है कि अपने चरमोत्कर्ष मे भी छायावाद रवीन्द्र के प्रभाव की परिधि के वाहर नही निकल सका था। पत पर तो रवीन्द्र के सीधे प्रभाव का आरोप है ही पर निराला की 'शाश्वत ज्योति' और 'विराट सत्ता' तथा प्रसाद का 'समरसता का दर्शन' रवीन्द्र के समन्वय दर्शन के प्रभाव-क्षेत्र ही मे थे। निराला की

भक्तिमूलक रचनाओं और रवीन्द्र के प्रगीतों में भी साम्य स्पष्ट है। अत श्रेष्ठ एवं मौलिक साहित्य का युग होते हुए भी हिंदी कविता के आगे के विकास के लिए इस प्रभाव-क्षेत्र से निकलना आवश्यक था। उत्तर छायावाद में बच्चन नरेंद्र शर्मा आदि का काव्य इस प्रभाव क्षेत्र से निकलने का ही प्रयास है—लेकिन यह मुक्ति स्वयं कविता की ही कीमत पर हो रही थी। छायावादी काव्य का गांभीर्य नष्ट हो रहा था और उसकी जगह सरलता ले रही थी—जिसका विकास आगे चलकर गीत धारा में हुआ। बच्चन नरेंद्र शर्मा, अंचल प्रभृति इसी गीत धारा के प्रवर्तकों में हैं। इसी के समानान्तर प्रगतिवादी साहित्य के नाम पर जो कृतित्व सामने आ रहा था—उसमें भी सरलीकरण की प्रवृत्ति काम कर रही थी। उद्देश्यमूलक होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि जनमानस तक पहुंचने की उसकी चाह हो। इस चाह के मोह में कविता का स्तर चाहे कितना भी गिर जाए, उन्हें इसकी चिन्ता क्या होती? इस कारण इन कवियों ने भी गीत धारा को समर्थन दिया क्योंकि जन मानस तक पहुंचने का यह सीधा साधन थी। यही कारण है कि हिंदी के अधिकांश गीतकार जनवादी भी रहे और प्रेमवादी भी।

ठीक इसी समय भारतीय मानस में भी परिवर्तन हो रहा था। पुनरुत्थान की भावना से ऊपर उठकर लोग नये मूल्यों की खोज की बात करने लगे थे। आज़ादी के आदर्श के लिए तत्कालीन भारतीय अधिक कृतसंकल्प था—लेकिन उसके बाद के चित्र को स्पष्ट करने का प्रश्न भी उसके सामने उठ चुका था। अपनी स्वतंत्रता को वह व्यापक अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में रखकर भी देख रहा था और यही कारण है कि तत्कालीन युवा मानस के प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू सुनियोजित आर्थिक कार्यक्रम और विदेश नीति की समस्या पर सोचने लगे थे। औद्योगिक विकास नगरों में अपना प्रभाव दिखा रहा था। वैज्ञानिक चिंतन और मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण शिक्षित भारतीय मानस अपनी विवशताओं व सीमा के प्रति सजग था। सामाजिक और राजनैतिक वर्जना उसे अधिक चुभती थी क्योंकि यथार्थपरक रुझान होने के कारण वह उनसे पलायन नहीं कर सकता था। इस स्थिति से पलायन करने वालों के साहित्य को यदि अज्ञेय अतृप्ति या लालसा (Wishful Thinking) का साहित्य कहें तो अनुचित नहीं।

इस प्रकार किसी भी ईमानदार कवि के आगे तीन प्रमुख चुनौतिया थी, जिन्हे सक्षिप्त मे इस प्रकार सूत्रवद्ध किया जा सकता है : (१) काव्य मे वदलती हुई सवेदना को अभिव्यक्ति देना, (२) परम्परा से जुडे रहकर भी रवीन्द्र के प्रभाव-क्षेत्र से कविता को मुक्त करना और (३) सरलीकरण से वचते हुए काव्य की कला-गरिमा को वनाए रखना।

यह समस्या मूल रूप से उन सभी कवियो के आगे थी, जिन्हे अज्ञेय ने 'तार सप्तक' मे 'राहो का अन्वेषी' कहा है और सभी किसी न किसी रूप मे इन समस्याओ का समाधान खोजने की चेष्टा कर रहे थे। अज्ञेय के लिए ये तीनो समस्याएँ सगुम्फित होकर एक ही हो गई थी और इसी कारण हम देखते है कि प्रारम्भ से ही अज्ञेय मे सक्रमणकालीन भारतीय मानस को अभिव्यक्ति देने मे उसके अनुरूप काव्य-धारा को मोडते हुए परम्परा से जुडने तथा सरलीकरण से वचने की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। 'तार सप्तक', 'इत्यलम्,' 'हरी घास पर क्षण भर' और 'शेखर' मे अज्ञेय सक्रमणकालीन भारतीय मानस की विवशता का ही नही—वर्जनाओ को तोड़ने की उसकी चेष्टा को भी अभिव्यक्ति देते है। 'शेखर' का तो लक्ष्य ही 'स्वातत्र्य की खोज' है। अपनी कविताओ मे भी अज्ञेय जहाँ सामाजिक वर्जनाओ के प्रति विद्रोह अभिव्यक्त करते है, वही वे वदलती सवेदना के अनुरूप साधारणीकरण की नयी राह खोजने का प्रयत्न भी करते है। कुण्ठा-मुक्ति की प्रक्रिया मे जिस जीवन-दर्शन का विकास अज्ञेय मे होता है, उसके लक्षण भी हमे प्रारभ से ही मिलते है। यहा अज्ञेय ने दुहरे दायित्व का निर्वाह किया है। अपने जीवन-दर्शन मे व काव्य-दर्शन मे भी वे रवीन्द्र की परिधि से वाहर निकलकर उसका विकास करते है। तथ्य और सत्य के प्रति रवीन्द्र और प्रसाद की एक-सी दृष्टि है। लेकिन अज्ञेय यह मानते हुए भी कि 'जीवन का स्रोत घटना का स्रोत नही है, वह चेतना का स्रोत है', तथ्य की उपेक्षा कही नही करते। तथ्य और सत्य के प्रति रवीन्द्र और अज्ञेय के अन्तर को समझने के लिए स्वय उन्ही का साक्ष्य उपयुक्त होगा। कलकत्ता विश्वविद्यालय व्याख्यान माला मे दिए गए 'तथ्य और सत्य' शीर्षक भाषण मे एक जापानी चित्रकार की वात करते हुए रवीन्द्र अपने विचार स्पष्ट करते है "किसी एक जापानी कलाकार के चित्र मे मैने देखा था, मूर्ति के सामने सूरज है किन्तु पीछे छाया नही है।

एक बच्चा भी जानता है कि ऐसी दशा में लबी छाया पड़ती है। किन्तु चित्र की रचना तो वस्तु विद्या के परिचय के लिए नहीं। कला रचना में जो डरते-डरते तथ्य की मजूरी करते हैं वे भी क्या शिल्पी है।'[1] स्पष्ट है कि यहा तथ्य के प्रति उपेक्षा भाव है जब कि अज्ञेय तथ्य ज्ञान को कवि के लिए आवश्यक मानते हैं। धर्मवीर भारती की आलोचना वे इसलिए करते हैं कि उन्होंने 'कनुप्रिया' में रजनीगधा के फूलो की तरह शब्दों के टपकने का उल्लेख किया है जब कि ये फूल डाली पर ही सूख जाते हैं—अत उनके टपकने में भी शब्द की बजाय नीरवता ही अधिक लक्षित होती। अज्ञेय तथ्य जगत की अवहेलना नहीं करते और यही कारण है कि नददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक—जो प्रारम्भ मे अज्ञेय के दुर्दाम विरोधी रहे हैं—भी इसे अज्ञेय काव्य की विशेषता स्वीकार करते हैं 'अज्ञेय जी की नयी काव्य सृष्टि में दो-तीन बातें हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है। एक है इस काव्य सृष्टि में प्रकृति की गतियो रूपो एव मुद्राओ का सफल अकन। यद्यपि ये रूप गतियाँ और मुद्राएँ लेखक की आतरिक भावना से सपृक्त है पर उनमे यथार्थता का पक्ष भी पूरी तरह से भास्वर होता है।' वस्तुत यथार्थ का यह आग्रह ही है कि अज्ञेय 'युक्ति-सत्य' मानवता की बजाय यथार्थ मानव पर जोर देते है। स्वय उन्हीं के शब्दो में 'मुझे यह बात उतनी शोचनीय नहीं जान पड़ती कि लेखक का प्रकृति परिचय अधूरा हो या कि उसके मानवीय सबधो की परिधि बहुत छोटी हो मुझे यह बात खतरनाक जान पड़ती है कि 'प्रकृति', 'मानव' 'जनता' 'मासेज'—ये सब उसके लिए अनुभव गोचर यथार्थ न रहकर मानसिक परिकल्पनाएँ—एवस्ट्रैक्ट विचार-तत्त्व बन जाए। पर्यवेक्षण का क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है अनुभव की कमी को पूरा किया जा सकता है, पर अनुभव गम्य यथार्थ से कट जाने पर उससे फिर सबध जोड़ना बड़ा कठिन होता है, और परिश्रमसाध्य होता है अपने-आप तो जुड़ ही नहीं सकता। अनुभव की कमी लेखक को केवल असमर्थ बनाती है पर यथार्थ का यह बौद्धिकीकरण उसे आततायी होने की अतिरिक्त सामर्थ्य दे देता है जो इस मनुष्य, उस मनुष्य अनेक मनुष्यो को अलग-अलग जीवन्त और सवेदनशील

---

1 धर्मयुग ६ अगस्त १९६७ पृ १९

इकाइयो के रूप मे नही जानता और अपनाता वह मूढ है, किन्तु जो इसके वावजूद 'जनता', मानवता', 'मासेज' आदि के नाम पर आह्वान करता है वह वैसा मूढ है जिसके हाथ मे आग है।"[1] इसी आग्रह के कारण अज्ञेय व्यष्टि के माध्यम से समष्टि से जुडते है। सत्य की तुलना मे तथ्य उपेक्षित नही होता वरन् तथ्य ही सत्य मे सपृक्त हो उठता है। यहाँ फिर श्री साही अज्ञेय की दृष्टि को पूरा नहीं ममझ पाए है क्योकि उनके अनुसार अज्ञेय के लिए 'सत्य' क्षणिक है जवकि तथ्य चिरन्तन। दरअसल अज्ञेय भी महत्त्व तो 'मत्य' को ही देते है पर वे मानते है कि वह 'तथ्य' के माध्यम से ही प्रकाशित होता है—अन्यथा सत्य मात्र 'युक्ति-सत्य' ही रह जाएगा। 'तथ्य' के महसा 'मत्य' से आलोकित हो उठने का तात्पर्य भी क्षणिकता नही है "इस तरह के सहसा उदित होने वाले 'सत्य' सहसा मूर्त नही होते, मूर्ति का उद्घाटन ही सहसा होता है और हम उद्घाटन के क्षण को निर्माण का क्षण मान लेते है यद्यपि वह न जाने कितने लवे, सचय-उपचय, क्षण-निरूपण का परिणाम होता है।"[2] 'सत्य' के निर्माण की प्रक्रिया के वारे मे अज्ञेय के विचार यदि हम जान ले तो स्पप्ट हो जाता है कि 'सत्य' 'तथ्य' का सहसा आलोकित हो उठना नही है वरन् शनै शनै 'तथ्य' का एक सूक्ष्म स्तर पर 'सत्य' मे रूपान्तरित होना है. 'सत्य तथ्य का रचनात्मक, सृजनात्मक रूप है। और सृजन सब पेनफुल होता है।"[3] क्षण का आग्रह वस्तुत. अनुभूति की प्राथमिकता का ही आग्रह है, अन्यथा उसका सत्य मे रूपान्तरित होना तो लवी प्रक्रिया है ·

बूँद स्वाति की भले हो
वेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
वज्र जिससे फोडता चट्टान को
भले ही फिर व्यथा के तम मे
वरस पर वरस वीते

---

१ आत्मनेपद, पृ० १३७-३८
२ वही, पृ० २२८-२६
३ नदी के द्वीप, पृ० १६

एक बच्चा भी जानता है कि ऐसी दशा में लंबी छाया पड़ती है। किन्तु चित्र की रचना तो वस्तु विद्या के परिचय के लिए नहीं। क्या रचना में जो डरते डरते तथ्य की मजूरी करते हैं वे भी क्या शिल्पी हैं? स्पष्ट है कि यहां तथ्य के प्रति उपेक्षा भाव है जब कि अज्ञेय तथ्य ज्ञान को कवि के लिए आवश्यक मानते हैं। धर्मवीर भारती की आलोचना वे इसलिए करते हैं कि उन्होंने कनुप्रिया में रजनीगंधा के फूलों की तरह शब्दों के टपकने का उल्लेख किया है जब कि ये फूल डाली पर ही सूख जाते हैं—अतः उनके टपकने में भी शब्द की बजाय नीरवता ही अधिक लक्षित होगी। अज्ञेय तथ्य जगत की अवहेलना नहीं करते और यही कारण है कि नन्दुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक—जो प्रारम्भ में अज्ञेय के दुर्दान्त विरोधी रहे हैं—भी इस अज्ञेय काव्य की विशेषता स्वीकार करते हैं। अज्ञेय जी की नयी काव्य-सृष्टि में दो-तीन बातें हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती हैं। एक है इस काव्य सृष्टि में प्रकृति की गतियां, रूपों एवं मुद्राओं का सफल अंकन। यद्यपि ये रूप, गतियां और मुद्राएँ लेखक की आंतरिक भावना से सम्पृक्त हैं पर उनमें यथार्थता का पक्ष भी पूरी तरह से भास्वर होता है।[1] वस्तुतः यथार्थ का यह आग्रह ही है कि अज्ञेय युक्ति-सत्य मानवता की बजाय यथार्थ मानव पर जोर देते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में मुझे यह बात उतनी शोचनीय नहीं जान पड़ती कि मानव का प्रकृति परिचय अधूरा हो या कि उसके मानवीय संबंधों की परिधि बहुत छोटी हो। मुझे यह बात खतरनाक जान पड़ती है कि प्रकृति, मानव, जनता, मास्सेज—ये सब उसके लिए अनुभव-बाहर यथार्थ से रहकर मानसिक परिकल्पनाएं—एब्स्ट्रैक्ट विचार-तत्त्व बन जाएं। संबंधों का क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है अनुभव की कमी को पूरा किया जा सकता है पर अनुभव गम्य यथार्थ से कट जाने पर उससे फिर संबंध जोड़ना कहीं कठिन होता है और परिश्रमसाध्य होता है अपने-आप तो जुड़ ही नहीं सकता। अनुभव की कमी संवेदना को केवल असमर्थ बनाती है पर यथार्थ का यह बौद्धिकीकरण उसे आततायी होने का अतिरिक्त सामर्थ्य दे देता है जो इस मनुष्य उस मनुष्य अनेक मनुष्यों का अलग-अलग जीवन्त और संवेदनशील

---

[1] दर्शक १ अगस्त १९६७ पृ० १२

इकाइयो के रूप मे नही जानता और अपनाता वह मूढ है, किन्तु जो इसके बावजूद 'जनता', मानवता', 'मासेज' आदि के नाम पर आह्वान करता है वह वैसा मूढ है जिसके हाथ मे आग है।"[1] इसी आग्रह के कारण अज्ञेय व्यष्टि के माध्यम से समष्टि से जुडते है। सत्य की तुलना मे तथ्य उपेक्षित नही होता वरन् तथ्य ही सत्य मे सपृक्त हो उठता है। यहाँ फिर श्री साही अज्ञेय की दृष्टि को पूरा नहीं समझ पाए है क्योकि उनके अनुसार अज्ञेय के लिए 'सत्य' क्षणिक है जब कि तथ्य चिरन्तन। दरअसल अज्ञेय भी महत्त्व तो 'सत्य' को ही देते है पर वे मानते है कि वह 'तथ्य' के माध्यम से ही प्रकाशित होता है—अन्यथा सत्य मात्र 'युक्ति-सत्य' ही रह जाएगा। 'तथ्य' के सहसा 'सत्य' से आलोकित हो उठने का तात्पर्य भी क्षणिकता नहीं है: "इस तरह के सहसा उदित होने वाले 'सत्य' सहसा मूर्त नही होते, मूर्ति का उद्घाटन ही सहसा होता है और हम उद्घाटन के क्षण को निर्माण का क्षण मान लेते है यद्यपि वह न जाने कितने लवे, सचय-उपचय, क्षण-निरूपण का परिणाम होता है।"[2] 'सत्य' के निर्माण की प्रक्रिया के बारे में अज्ञेय के विचार यदि हम जान लें तो स्पष्ट हो जाता है कि 'सत्य' 'तथ्य' का सहसा आलोकित हो उठना नहीं है वरन् शनैः शनैः 'तथ्य' का एक सूक्ष्म स्तर पर 'सत्य' मे रूपान्तरित होना है 'सत्य तथ्य का रचनात्मक, सृजनात्मक रूप है। और सृजन सब पेनफुल होता है।"[3] क्षण का आग्रह वस्तुत. अनुभूति की प्राथमिकता का ही आग्रह है, अन्यथा उसका सत्य मे रूपान्तरित होना तो लबी प्रक्रिया है:

> बूँद स्वाति की भले हो
> वेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
> वज्र जिससे फोडता चट्टान को
> भले ही फिर व्यथा के तम मे
> बरस पर बरस बीतें

---

१. आत्मनेपद, पृ० १३७-३८
२ वही, पृ० २२८-२९
३ नदी के द्वीप, पृ० १९

एक मुक्ताकाश का स्वर।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अज्ञेय [illegible] कविता को राष्ट्र का प्रभाव परिधि से बाहर निकाला है। वे स्वयं राष्ट्र से प्रभावित रहे हैं लेकिन उस प्रभाव को आत्मसात् करके वे परम्परा का विकास करते हैं उसका [illegible] नहीं करते। यही कारण है कि अज्ञेय कविता की सामयिकता समष्टि होते हुए [illegible] नहीं मानते। समष्टिगत होते हुए भी यहाँ वैयक्तिकता सुरक्षित है — यही अज्ञेय का आग्रह है और समष्टि से जुड़ा [illegible] यथार्थपरक [illegible] था।

सत्य की तथ्य की [illegible] के कारण यह स्वाभाविक हो है कि अज्ञेय शब्द की गरिमा को बनाए रखने के लिए सचेष्ट रहें और उसे दूषित न होने दें क्योंकि यह प्रकारान्तर से सत्य का दूषित होना होगा। अज्ञेय यह भली प्रकार जानते हैं कि सरलीकरण की प्रवृत्ति अनुभव-गोचर सत्य का नहीं युक्ति-सत्य का ही सम्प्रेषण कर सकती है क्योंकि कलाकार का उद्देश्य अनुभूति का सरलीकरण नहीं उसे मौलिक स्वरूप में सम्प्रेषित करना होता है। अनुभूति का यह सरलीकरण उसे कृत्रिम और चालू [illegible] कर देता है 'लेनिन का ही कहना था कि अधिक लोगों की समझ में आ सके इस लालच से सही बात को सस्ता, वल्गराइज नहीं करना चाहिए एक बार समझ में न आए पर दस बार उसकी आवृत्ति करें, पर वह सही बात। आन्दोलन का निचोड़ है आवृत्ति। लेखक के नाते मैं कहाँ तक अपनी बात की आवृत्ति कर सकता हूँ या कहाँ तक आवृत्ति – जो राजनैतिक आन्दोलन का एक अंग है राजनैतिक कर्मी का कर्तव्य है— साहित्य का अंग हो सकती है यह मेरे लिए चिन्त्य हो सकता है पर इस मैं निःसंशय भाव से जानता हूँ कि सच को लोकप्रिय बनाने के लिए उसे वल्गराइज नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसीमें वह झूठ हो जाता है। एक तरह से मैं यह भी समझता हूँ कि मेरा यह विश्वास मेरे आज के और भविष्य के पाठक में मेरी आलोचक से अधिक श्रद्धा और सम्मान का चिह्न है। क्योंकि मैं मानता हूँ कि जो आज नहीं भी समझा है वह कल समझेगा।' और यह आवश्यक नहीं समझता हूँ कि मैं आज ही ऐसा मान लूँ कि जो आज मेरी बात नहीं समझता है वह कल भी नहीं

---

१ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये पृ० १०१

समझेगा, और इसीलिए आज ही अपनी बात घटिया ढग से कहूं।"[1] अज्ञेय के इन विचारो का प्रभाव स्वय उनके साहित्य पर ही नही, उनके द्वारा पुरस्कृत काव्य-धारा पर भी रहा है। नयी कविता पर जटिलता या दुरूहता का आरोप—चाहे इसके पीछे पाठक-आलोचक के पूर्वाग्रह या अक्षमता ही रही हो—इतना तो स्वत सिद्ध कर देते है कि यह काव्य-धारा सरलीकरण मे विश्वास नही करती।

हिन्दी कविता को नया मोड देने का श्रेय अज्ञेय को नही है—यह बात कई बार उन्हीके प्रारम्भिक साथियो द्वारा कही जाती रही है। 'तार सप्तक' के द्वितीय सस्करण के अपने वक्तव्यो मे प्राय सभी कवियो ने इस ओर ध्यान दिलाया है और यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उसके सकलनकर्ता की स्थिति मात्र एक प्रकाशक की थी। यह सही भी हो सकता है (यद्यपि सपादकीय नाम का एक तत्त्व उसमे है) लेकिन फिर भी प्रश्न उठता है कि यह बात उन दिनो क्यो नही उठाई गई जब 'तार सप्तक' के सपादक पर आचार्यजनो द्वारा आलोचना की बौछार हो रही थी? एक बात और—साहित्य के क्षेत्र मे नेतृत्व का मतलब यह नही है कि कोई व्यक्ति अपनी इच्छानुकल पूरे वातावरण को बदल डाले। नेतृत्व का तात्पर्य यही है कि तत्कालीन परिस्थिति एव नवनवोन्मेष-शालिनी प्रवृतियो को समझा जाए और उनके स्वस्थ विकास के लिए समुचित श्रम किया जाए। नेता का तात्पर्य सैनिक-अधिकारी से नहीं है। यह भी कहा गया है कि सपादक को स्वय कवियो ने चुना था, पर इस तथ्य की ओर बिल्कुल ध्यान नही दिया जाता कि मूल योजना मध्य प्रदेश के सात कवियो का एक सकलन निकालने की ही थी जिसे अज्ञेय ने पूरे हिन्दी जगत् की नई प्रवृत्तियो के सकलन के रूप मे रखने का रूप दे दिया और रामविलास शर्मा तथा गिरिजाकुमार माथुर का चुनाव भी स्वय अज्ञेय का ही है।

फिर यह भी कि नयी कविता की जो प्रवृत्तियाँ उस समय उदित हो रही थी, उनको दिशा देने का कार्य 'तार सप्तक' से अधिक 'त्रिशकु' के निबंधो, 'प्रतीक' के प्रकाशन तथा 'दूसरा' व 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन ने किया। 'तार सप्तक' के कवि चाहे किसी वाद के कारण एकत्रित न हुए

---

१ आत्मनेपद, पृ० १५६-६०

हा पर इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रयोगशीलता उन सभी मथी और इसीलिए सपादक न उन्हें 'राहा का अन्वेषी कहा। दूसरा सप्तक म परम्परावादी आलोचकों को शास्त्रीय स्तर पर ही जो चुनौती अज्ञेय ने दी उसने नये कवियों म कम आत्मविश्वास पदा नहीं किया। नयी कविता नामकरण भी अज्ञेय का ही है। तीसरा सप्तक की भूमिका म भी अज्ञेय न नयी कविता की प्रयोगशीलता के जो आयाम बताए उन्होंने इस काव्य धारा के स्वरूप निरूपण में प्रमुख योग दिया है। तार सप्तक के सपादक अज्ञेय न हाते या दूसरा-तीसरा सप्तक नहीं निकलते तो भी नयी प्रवृतियों को दबाया नहीं जा सकता था। यह कहना अब वैसा ही लगता है जसा यह कहना कि यदि गाधी न भी होते तो देश कौन सा आजाद नहीं होता, या कि देश को आजादी सिर्फ गाधी के ही कारण नहीं मिली है। क्योंकि निश्चय ही युग स बडा नहीं होता लेकिन युग को उसने प्रभावित किया ही हो तो अब क्या इलाज ?

यदि मात्र सृजन के ही आधार पर देखा जाए तो भी अज्ञेय के कृतित्व का हिन्दी काव्य म विशिष्ट स्थान होता है। छायावाद के दो प्रमुख कवियों की शृंखला के बाद इसमें अगला नाम निःसन्देह अज्ञेय का हो जुड सकता है। निराला का पौरुष और प्रसाद' की सांस्कृतिक गरिमा आधुनिक दृष्टि स ससंवलित होकर हम अज्ञेय म प्राप्त होते है। इसी पौरुष के कारण निराला के बाद हिन्दी म सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व अज्ञेय का रहा है। निराला का पौरुष जिस प्रकार के विद्रोह म व्यक्त होता है उससे कहीं अधिक व्यापक विद्रोह अज्ञेय का है। अज्ञेय के विद्रोह के पीछे किसी वाद का बधन नहीं मानव व्यक्तित्व की सृजनशीलता का आग्रह है और इसी कारण उनका विद्रोह उन सभी प्रकार की वर्जनाओं के प्रति है जो व्यक्तित्व के विकास म बाधा उत्पन्न करती है। इस प्रकार सामाजिक अवस्था की दृष्टि स अज्ञेय का विद्रोह अधिक सूक्ष्म एव व्यापक है। मैं मस्ती मे मुखी मैंने जीवन की धज्जिया उडाई हैं जसी कविताओं म दार्शनिक गरिमा स युक्त जिस फक्कड़पन की अभिव्यक्ति होती है वह अज्ञेय का निराला की परम्परा का विकसित करने का श्रेय देता है। छन्द के क्षेत्र म भी निराला के प्रयोगों की परम्परा को अज्ञेय ने वाक् छन्द के आधार पर विकसित किया है जो अपने-आप म पूरे अध्ययन

का विषय है। इसी प्रकार अज्ञेय की शब्द-चेतना भी निराला से अधिक विकसित है। 'राम की शक्ति पूजा' मे भाषा का प्रवाह और सतुलन निश्चय ही द्रष्टव्य है लेकिन उस भाषा मे वैसी सहजता का अभाव है जो 'असाध्य वीणा' की भाषा मे हमे मिलती है । सभव है इसका कुछ कारण भाषा की अपनी सीमा रही हो यद्यपि अपने परवर्ती काव्य मे निराला मे भाषा के मामले मे अधिक खुलापन आया है।

प्रसाद की सास्कृतिक गरिमा भी अज्ञेय ने अपने काव्य मे आत्मसात की है लेकिन उसकी ऐतिहासिकता के प्रभाव से वे मुक्त रहे हैं। अज्ञेय-काव्य मे सस्कृति इतिहास के माध्यम से नही —साधारण जीवन के सास्कृतिक आनुपगो के माध्यम से अनुभूति का माध्यम बनकर आती है। प्रसाद की भाषा का आभिजात्य अज्ञेय मे भी कई बार झलकता है और यह भी कि अज्ञेय की प्रारभिक भाषा प्रसाद से प्रभावित लगती है लेकिन 'हरी घास पर क्षण भर' के पश्चात् अज्ञेय की शब्द-सामर्थ्य प्रसाद मे अधिक विकसित लगती है। शब्द-चेतना और बिम्वात्मकता के कारण कलाकार के रूप मे अज्ञेय प्रसाद से आगे निकल जाते है। अपनी ऐतिहासिकता के कारण प्रसाद पुनरुत्थानवादी अधिक लगते है जब कि अज्ञेय परम्परा को आत्मसात् कर नवसर्जना पर अधिक बल देते है।

हिन्दी के काव्य-चिन्तन एव सर्जन को अज्ञेय के सहयोग का लेखा-जोखा तब तक अधूरा ही रहेगा जब तक हम परवर्ती पीढी पर पड रहे प्रभावो से परिचित न हो ले—यद्यपि अभी इसका उपयुक्त समय नही है। कविता को भावुकता के प्रवाह से निकालकर एक बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय अज्ञेय को ही है। बौद्धिकता से हमारा तात्पर्य भावना पर विवेक के अनुशासन से ही है । इस कारण काव्य मे जिस गाभीर्य की अवतारणा हुई है, वह सराहनीय तो है ही, काव्य की रूढ प्रणालियो को तोडकर अज्ञेय ने काव्य के द्वार नयी शैलिपक योजनाओ तथा अनुभूतियो के लिए खोल दिए। यही कारण है कि परवर्ती हिन्दी कविता मे जितना वैविध्य विभिन्न स्तरो पर दिखाई देता है— वह इसकी जीवन्तता का प्रतीक है। वैयक्तिक रूप से अज्ञेय की कविता का प्रभाव भी परवर्ती पीढी पर पडा है। जगदीश गुप्त का अध्यात्म-बोध, तथा सर्वेश्वरदयाल एव रघुवीर सहाय की वैयक्तिततामूलक सवेदना पर तो अज्ञेय का प्रभाव

स्पष्ट ही है। नगर बोध व प्रारम्भिक लक्षण भी अज्ञय काव्य म स्पष्ट दीखते हैं यद्यपि उनम नगर के प्रति वितृष्णा का भाव अधिक है, उसका पीडा भागने का नही। यौन प्रतीका के माध्यम से अज्ञेय ने विद्रोह का जो अभिव्यक्ति दी—उसन समकालीनो को तो प्रभावित किया ही—आज की युवा पीढ़ी के कवि भी इन्ही प्रतीको के माध्यम से अपने आक्रोश की अभिव्यक्ति करत है। सामाजिक वजनाआ के प्रति विद्रोह का जो भाव अज्ञेय ने जगाया वह आज के साहित्य का स्थायी भाव हो गया है। वाक लय के आधार पर अज्ञेय के छन्दिक प्रयोगा न परवर्ती पीढ़ी के लिए मॉडेल का काम किया है। यही कारण है कि नयी कविता' का अधिकाश बोलचाल का लय पर आधारित है। तुक का आवृत्ति से लय व निर्माण और अर्थ उदघाटन तथा मुक्त अनुषगा (Free associations) के कविता म प्रयोग का भी स्थायी प्रभाव परवर्ती कवियो पर पडा है जिनम श्रीकान्त वर्मा प्रमुख हैं यद्यपि उनकी सवदना भिन्न प्रकार की है। अज्ञेय की सवदना का प्रभाव तो अभी कम मात्रा म है पर लगता है (यद्यपि यह भविष्यवाणी करन जसा ही है) कि काव्य-सरचना की दृष्टि से अज्ञेय का प्रभाव अधिक गहरा एव व्यापक रहेगा।

० ० ०